# जीवन और अभय

शिवानन्द
(विजय नगर, मेरठ)
प्रधानाचार्य निवास,
देवनागरी इण्टर कॉलिज,
मेरठ।

भारत भारती प्रकाशन
पश्चिमी कचहरी रोड,
मेरठ।

● प्रकाशक :
भारत भारती प्रकाशन
पश्चिमी कचहरी रोड,
मेरठ ।



● प्रथम संस्करण
५ अप्रैल, १९७९

● मूल्य : आठ रुपये

● पीयूष प्रिंटर्स
३२, शिवाजी मार्ग,
मेरठ ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृत मश्नुते (गीता)

---

मैं वह कहता हूँ जो जानने के योग्य है तथा जिसे जान लेने से अमृतपान होता है।

## समर्पण

जीवन
के
उपासकों को,
जो
जीवन के सौन्दर्य-माधुर्य
एवं गरिमा को
पहिचान कर
उसे संवारने में जुटे हैं।

—शिवानन्द
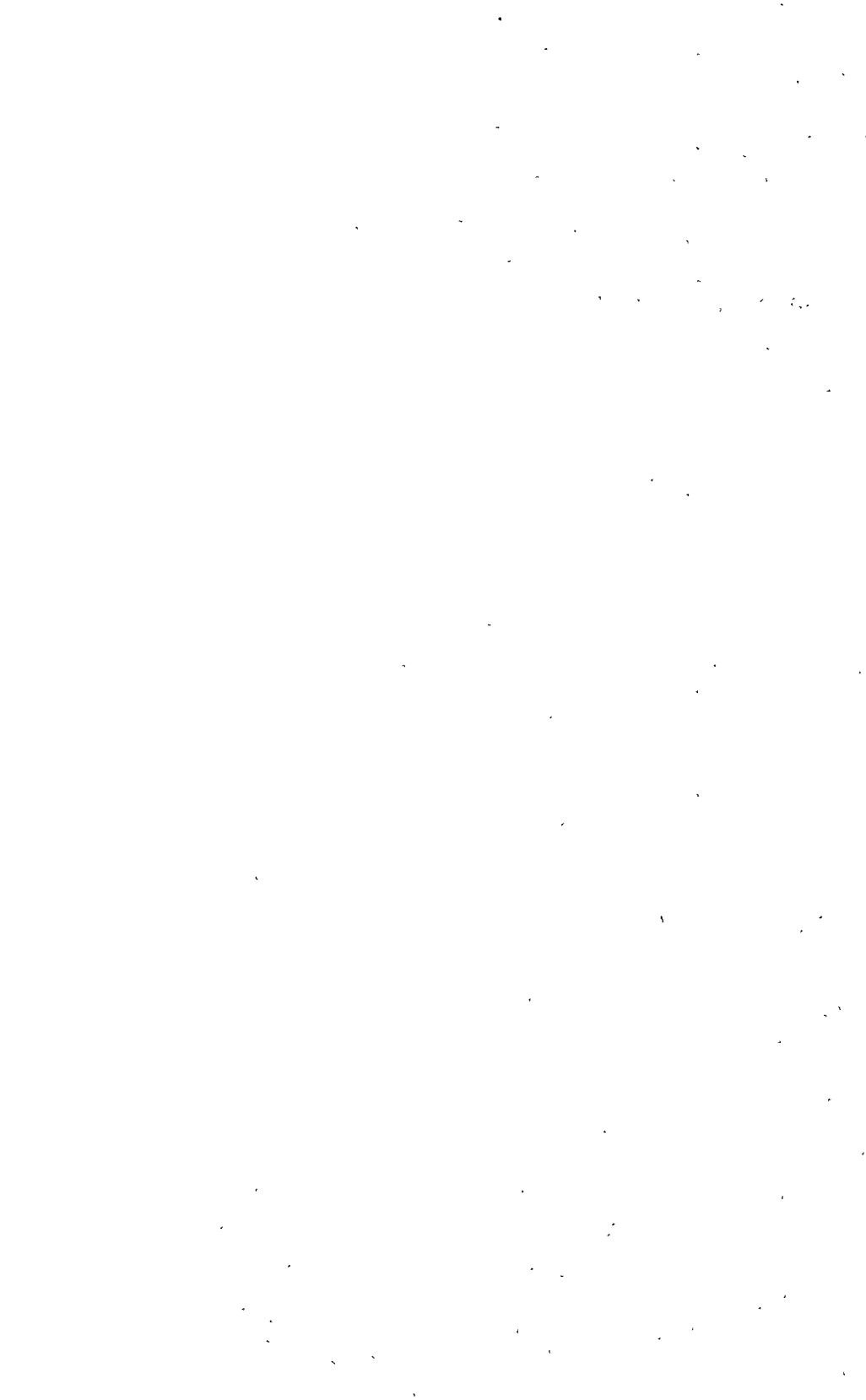
# निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक "जीवन और अभय" मेरी पूर्व-प्रकाशित पुस्तक "जीवन और सुख" (प्रकाशक—मोती लाल बनारसी दास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली) की भांति मेरे मिशन—सद्विचार का प्रचार और प्रसार— का एक माध्यम है। यह भी मेरे पूर्व-प्रकाशित कुछ लेखों के संकलन का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण है।

मैं कोई मौलिक विचारक नहीं हूँ, न कोई सन्त-महात्मा अथवा विद्वान् ही। जो कुछ मैंने पढ़ा, सुना, देखा और सीखा-समझा है, उसे चिन्तन-मनन एवं अनुभव की कसौटी पर परख कर अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। सत्य को जानने की उत्कट इच्छा-जिज्ञासा मूलतः प्रेरक है। प्रख्याति, प्रशंसा और पुरस्कार के प्रलोभन से दूर हटकर, विचार-परिष्कार एवं विचार-श्रीवृद्धि करना आदर्श के रूप में मेरे लिये प्रेरक रहा है। आशा करता हूँ कि श्रीमद्भगवद्गीता की मेरी मनोवैज्ञानिक एव व्यावहारिक सरल टीका भी शीघ्र प्रकाशित होगी। गीता मेरा प्राणाधार है, जीवन है।

मुझे विश्वास है कि सहृदय जन इस पुस्तक के ग्राह्य अंशों को ग्रहण करेंगे तथा सदोष स्थलों के लिये मुझे उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे। अन्य भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद होना प्रचार में सहयोग होगा।

"गच्छन्तः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥"

—शिवानन्द

# विषय-सूची

१

# जीवन और अभय

जीवन एक वृक्ष की भांति है जिस पर उल्लास एवं मधुर मुस्कान पुष्पों की भांति खिलते हैं तथा गुण एवं कर्म फलों की भांति लगते हैं। भय एक ऐसा भीषण रोग है जिससे आहत होने पर जीवन रूपी वृक्ष हरा-भरा रहकर लहलहा नहीं सकता, इसके फूल कुम्हला जाते हैं और फल कटु हो जाते हैं। भय समस्त मानवीय शक्तियों को चाट जाता है और जीवन एक बोझ बनकर रह जाता है। यदि जीवन को सार्थक बनाना है तो भय का निदान एवं निराकरण करना आवश्यक है। जीवन एक सुखद वरदान है यदि मनुष्य ने भयमुक्त होकर जीना सीख लिया है; जीवन एक अभिशाप है यदि मनुष्य भयग्रस्त है। जीवन के रहस्य को खोजने के लिये और पूर्ण सुख प्राप्त करने के लिये निर्भय होना नितान्त आवश्यक है। भय मनुष्य की जीवन-धारा को विषाक्त कर देता है और सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों के जीवन में भी विष घोल देता है।

यदि मनुष्य इस गूढ़ रहस्य को समझ ले कि समस्त भय उसका अपना थोपा हुआ एक दोष है तो भय की निवृत्ति अवश्य संभव है। भय एक मिथ्या कल्पना है जिसे एक काली चादर के समान हमने स्वयं ओढ़ लिया है। भय कोई विवशता नहीं है। भय तो एक नासमझी है, एक अबोधता है, एक भयंकर भूल है।

हमें यह भी स्पष्टतः समझ लेना चाहिये कि भय के निवारण में कोई भी अन्य व्यक्ति हमारी सहायता नहीं कर सकता है। हमें अपनी सहायता स्वयं ही करनी होगी और हम निश्चय ही दृढ़ संकल्प के द्वारा इस काल्पनिक काली चादर को क्षण-भर में उतार कर फेंक सकते हैं। हम अपने भय से परिचित हों तथा उसका उपाय करें; हम अवश्य भयमुक्त हो सकते हैं। हम जीवन में मस्ती ला सकते हैं और दिन रात सुखी रहकर जीवन का पूरा लाभ उठा सकते हैं जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

भय का प्रभाव विचित्र होता है। भय निराकार होकर भी पग-पग पर साकार दिखाई देता है, सूक्ष्म होकर भी स्थूल दिखाई देता है, अस्तित्वहीन एवं काल्पनिक होकर भी अस्तित्वमय एवं यथार्थ दिखाई देता है, शक्तिशून्य होकर भी शक्तिशाली दिखाई देता है। भय शंकाओं को जन्म देता है, मन को क्षीण करता है, आशावाद को आघात तथा व्यक्तित्व को अपूरणीय क्षति पहुँचाता है, मनुष्य को प्रकाश से हटाकर अंधकार में डुबो देता है, उसे दयनीय बना देता है। जीने के लिये सर्वप्रथम भय त्याज्य है। भय हमारा प्रथम शत्रु है, हम संकल्प से इस पर विजय पा सकते हैं।

भय से चिन्ता द्विगुणित होती है। भय और चिन्ता से उत्पन्न तनाव मनुष्य का दम घोंट देता है। भय एक धोखा है, मृगमरीचिका है, छल है, अयथार्थ है, मिथ्या है। यदि एक बार हम यह अच्छी प्रकार से जान लें कि भय का भूत हमारी ही एक कोरी कल्पना है और इसमें कोई दम नहीं है तथा यदि हम दृढ़ संकल्प द्वारा इसका डटकर सामना कर लें तो क्षण भर में ही यह विलुप्त हो जायेगा। भय मनुष्य को रोगी बना देता है तथा भयमुक्त व्यक्ति ही स्वस्थ और प्रसन्न रह सकता है, जीवन में चुनौतियों का मुकाबला कर सकता है।

जब हमें कोई विषम परिस्थिति घेर लेती है और ऐसा लगता है कि संकट के बादल मंडरा रहे हैं तो सहसा भयानक दुर्घटना होने का भय मन को पकड़ लेता है। भय मन को दुर्बल कर देता है। मनुष्य परिस्थिति को सुधारने अथवा उसका सामना करने के बजाय थककर हार मान लेता है और भाग्य को कोसने तथा परमात्मा को दोष देने लगता है। यह मानव के दुःख की कहानी है। हमें यह विचार करना चाहिये कि यदि हम मन में परास्त होकर बैठ जायेंगे तो हमारे लिये कौन अन्य संघर्ष करेगा। भय मानने पर हमें पराजय और अपमान का मुँह देखना पड़ेगा।

भय की औषधि है विश्वास—ईश्वर की कृपा में विश्वास, अपनी शक्ति पर विश्वास। ईश्वर की कृपा से मैं संकट का सामना कर लूँगा, संकट को पार कर लूँगा—यह विश्वास मनुष्य को आगे ले जाता है। यदि मेरा एक द्वार बन्द होगा तो प्रभु मेरे लिये दस अन्य द्वार खोल देंगे और मेरी कोई हानि कदापि न होगी। ईश्वर विश्वास द्वारा मनुष्य का खोया हुआ आत्मविश्वास भी लौट आता है। ईश्वर की सत्ता और ईश्वर की अहैतुकी कृपा पर विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी अधीर नहीं होता।

**उप आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम वचन तजहु कदराई॥**

आत्म-विश्वास से धैर्य उत्पन्न होता है। धैर्य मनुष्य का सच्चा साथी होता है। धैर्य धारण करना सचमुच कठिन होता है किन्तु उसके फल सदैव मीठे होते हैं। 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपतकाल परखिए चारी।' धीर पुरुषों का धैर्य विधाता के भय दिखाने पर भी नहीं टूटता। गर्मी से सरोवर सूखते हैं, समुद्र तो तब भी बढ़ता ही रहता है।

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम्।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥

हम सुप्त संकल्प शक्ति को जगायें और दृढ़ संकल्प करते ही हमारी आधी विजय हो गयी, हमने आधा रास्ता पार कर लिया। विजयश्री प्राप्ति का ध्रुव विश्वास धारण करना विजय का मूल मंत्र होता है। भय और निराशा का समावेश होने पर मनुष्य पराजय एवं विनाश को आमन्त्रण देता है।

यदि भरसक प्रयत्न करने पर भी परिस्थिति प्रतिकूल ही रहे और लक्ष्यपूर्ति संभव न हो सके तो उसे प्रभु इच्छा मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। मनुष्य कर्म कर सकता है, फल तो प्रभु के अधीन है। गीता का अमर उपदेश है— कर्म करना तेरा अधिकार है, फल पर तेरा कोई अधिकार नहीं है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' मानव की अपनी सीमा होती है तथा ईश्वर-विधान का सत्कार करना हमारा धर्म होता है।

चीन देश के जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् कन्फ्यूशस का कथन है कि भय और मृत्यु में भय अधिक भयंकर है क्योंकि मृत्यु एक बार ही प्रहार करती है, भय तो बार-बार हमें दबोच लेता है। कन्फ्यूशस के जीवनवृत्त की एक घटना प्रसिद्ध है। यह सन्त दार्शनिक भ्रमणप्रिय थे। किसी देश में पहुँचने पर वहाँ के शासक ने तीन पिंजरे उनके सामने रखे। एक पिंजरे में चूहा था तथा उसके समीप सुन्दर खाद्य पदार्थ रखे थे। दूसरे पिंजरे में एक बिल्ली थी जिसके सामने दुग्ध आदि थे। तीसरे पिंजरे में एक श्येन (बाज) था जिसके समक्ष मांस रखा था। तीनों कुछ नहीं खा रहे थे। शासक ने इसका कारण महान् दार्शनिक कन्फ्यूशस से पूछा। उसने उत्तर में कहा—मूषक और बिल्ली को वर्तमान (श्येन की उपस्थिति) का भय है और वे यह नहीं सोच सकते कि यदि मरना ही है तो भूखे तो न मरें तथा इनके विपरीत श्येन को भविष्य का भय है जो लोभ मिश्रित है। श्येन सामने रखे हुए भोजन का तिरस्कार करके यह भय मान रहा है कि कहीं मूषक और बिल्ली चले न जायें। तीनों भयग्रस्त हैं और यदि इन तीनों को इसी प्रकार पिंजरों में पास-पास रहने दिया जाये तो भोजन सामग्री के समीपस्थ होने पर भी ये मिथ्या भय के कारण भूखे ही मर जायेंगे। यह है भय की भीषणता। भय की कोई सीमा नहीं होती है। कहां तक डरें? कब तक डरें? डर कर व्यर्थ क्यों दुर्गति करें?

संस्कृत में एक सूक्ति है जिसका आशय है कि भय से भीत होने के बजाय उससे निपटने का प्रयत्न करना चाहिये। 'आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्यात् यथोचितम्'। भय कल्पना जगत् की एक विचित्र वस्तु है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रकम्प एवं असंतुलन द्वारा जर्जरित एवं शोचनीय बना देती है। भयभीत मनुष्य सचमुच दयनीय होता है। भयभीत मनुष्य अपनी परछाई से भी डरता है। डरपोक मनुष्य को ही जीवित और मृतक शक्तियों का भय सताता है।

है। जो दूसरों पर बर्बर अत्याचार करता है तथा अकारण दूसरों को डराता है, वह स्वयं भी अवश्य डरेगा। जो स्वयं शान्त है, वह दूसरों को शान्ति दे सकता है, जो स्वयं अभय है वह दूसरों को अभय का पाठ सिखा सकता है। भगवान् महावीर कहते थे—'दाणाण सेट्ठं अभयप्पमाणं'—अर्थात् दानों में श्रेष्ठ अभयदान है। दुर्भिक्ष में अन्नदाता, सुभिक्ष में धनदाता, भय में अभयदाता की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है—'दुर्भिक्षे चान्नदातारं सुभिक्षे च हिरण्यदम्। भये चाभयदाता स्वर्गेऽपि बहुमन्यतेरं'।

अभय आत्म-साधना का प्राणबिन्दु है। आनन्दस्वरूप परमात्मा के अंशभूत जीव में सहज अभय का भाव विद्यमान है, जिसे हमें पहिचानना और जगाना है। भय स्वाभाविक क्रिया नहीं है, प्रतिक्रिया है। व्यक्तित्व में प्रेम एवं अभय भाव के उदय होने पर चारों ओर मंगलमय विधान का दर्शन होने लगता है।

भय से मुक्त होकर जीवन की किसी भी दिशा में आगे बढ़ने के लिये हमें अपने सुख-सुविधा तथा सत्ता और सम्मान के मोह से छूटना अत्यन्त आवश्यक है। स्टाइन बेक कहते हैं कि मनुष्य को सत्ता भ्रष्ट नहीं करती बल्कि उसके छूटने का भय भ्रष्ट करता है। प्रलोभन एवं प्रलोभनजन्य भय सत्ताधारी को भ्रष्ट कर देते हैं। संसार में सुख-सुविधा, सत्ता और सम्मान अस्थायी एवं नश्वर हैं तथा इन्हें सदा सुरक्षित रखना नितान्त असंभव है। उनके छूटने के भय से हम मानसिक संतुलन एवं शान्ति खो बैठते हैं। इन्हें प्राप्त करने का प्रलोभन तथा इन्हें स्थायी रखने का मोह हमें पापमय बना देता है। हम किसी वस्तु के स्वामी नहीं हैं; सभी वस्तुएँ धरती पर ही छूट जाती हैं। हमें अन्य व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्य पालन करके संतोष कर लेना चाहिये तथा किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के साथ मोह एवं अधिकारपूर्ण स्वामित्व का नाता स्थापित नहीं करना चाहिये। भय के मूल में मोह होता है। अतएव मन से मोह एवं आसक्ति छूटने पर भय निर्मूल हो जाता है। यदि हम समस्त घटना-चक्र को मोहमुक्त होकर, साक्ष्य भाव से अथवा तटस्थ दृष्टि से देखें तो हम कदापि भयभीत न होंगे। मन को मोहमुक्त करके घटनाचक्र से ऊपर उठकर जीना सीखना उत्तम साधना है। यही 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' की साधना है।

भर्तृहरि स्वस्थ वैराग्यभाव की आवश्यकता पर बल डालते हुए कहते हैं कि सुख-भोग में फंसने से अनेक शारीरिक व्याधियों के उत्पन्न होने का भय हो जाता है, कुल का अभिमान करने पर उसके कलंक का भय रहता है, धन संग्रह होने पर शासन का भय हो जाता है, सम्मान होने पर अपमान का भय हो जाता है, सत्ता आने पर शत्रु का भय हो जाता है, रूप-सौन्दर्य की आसक्ति से वृद्धावस्था की जर्जरता का भय हो जाता है, विद्वत्ता होने पर वाद-विवाद में पराजय का भय हो जाता है, शरीर का मोह होने पर मृत्यु का भय हो जाता है तथा केवल वैराग्य ही भय से मुक्त कर सकता है।

**भोगेरोगभयं कुलेच्युतिभयं वित्ते दैन्य भयं बले रिपुभयं रूपे जरायाः भयम् शास्त्रे वादभयं गुणेखलभयं काये कृतान्ताद् भयं सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥**

सन्त विनोबा भय को लोकतन्त्र का ऐसा रिपु मानते हैं जैसे कृषि के लिए तुषारपात। उनके विचार से राजनीति का उद्देश्य भय सींचना नहीं, उसे हटाना होना चाहिये। उनके मत में कानून का निर्माण भी प्रायः भय पर आवृत होता है। अभय हमारे जीवन में चारित्रिक मूल्यों को उभार कर उन्हें प्रखर बना देता है।

मृत्यु का भय भयराज है जो मनुष्य को प्रच्छन्न एवं प्रकट रूप से डराता और कंपाता रहता है। मृत्यु अवश्यंभावी है तथा ईश्वर के विधान का अपरिहार्य अंग है। मृत्युभय के निराकरण का एक ही उपाय है—मृत्यु को सहजभाव से स्वीकार करना। मृत्युभय से छूटने के लिये कठोपनिषद् का मंत्र है—

**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।**
**अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। कठोप० १।३।१५।**

जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और गंधरहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महान्, बुद्धि से श्रेष्ठ (परमात्मन्), सदा सत् तत्व है, उस परमब्रह्म को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से (मृत्यु के भय से) सदा के लिये मुक्त हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान होने पर मृत्य का भय नहीं रहता।

**'तमेव विदित्वा मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय।'**

अथर्ववेद के एक प्रार्थना मंत्र को हमें हृदयंगम कर लेना चाहिये। वाह्य और आन्तरिक अंधकार में मनुष्य अपने को अकेला समझकर घबरा जाता है किन्तु आस्थावान् व्यक्ति को सर्वदा सब दिशायें मंगलमय प्रतीत होती हैं।

**अभयं मित्रादभयमित्राद् अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।**
**अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।**

हमारे लिये मित्र से अभय हो, अमित्र से अभय हो, ज्ञात से अभय हो, जो सामने है उससे भय न हो, रात्रि में अभय हो, दिन में भी अभय हो। सभी दिशायें हमारे लिये मंगलकारी हो जायें।

आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करने पर मनुष्य निर्भय हो जाता है। ब्रह्मानन्द वाणी से परे है, मन की पहुँच से भी परे है। उसे प्राप्त करने पर भय नहीं रहता। अतः वेद कहता है—

**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**
**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।**

कवीन्द्र रवीन्द्र आदर्श अवस्था की कल्पना करते हुए गाते हैं—'चित्तयेथा भय शून्य उच्चयेथाशिर' (जहां चित्त भयशून्य है, मस्तक गर्वोन्नत है, जहां ज्ञान मुक्त है और शब्द सत्य की गहराई से निकल कर आते हैं···)।

भाव ने उसकी स्वाभाविक वीर वृत्ति को नष्ट कर दिया। उसमें क्लैव्य (कायरता) के लक्षण उत्पन्न हो गये, उसके अङ्ग शिथिल होने लगे, मुख सूखने लगा तथा शरीर में कम्प और रोमाञ्च होने लगा। उसके हाथ से गाण्डीव गिरने लगा, त्वचा मानो जलने लगी तथा उसका मन भ्रमित हो गया। ऐसी अवस्था में अर्जुन खड़ा होने में भी समर्थ न रह सका। वह कातर होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा—"मैं युद्ध में अपने ही कुलजन को मारने में अपना कल्याण नहीं देखता। मैं विजय नहीं चाहता। मैं गुरुजन, दादा, ताऊ, चाचा, भतीजे, पोते, मामा, श्वसुर, साले आदि सम्बन्धीजनों को मारना नहीं चाहता। मुझे न विजय चाहिये और न सुखभोग, मैं इन्हें त्रैलोक्यराज्य की प्राप्ति के लिये भी नहीं मारूंगा, पृथ्वी के लिये तो बात क्या? स्वजन को मार कर भला क्या सुख मिल सकता है? ये लोग लोभ के कारण युद्ध के दोषों को नहीं देख रहे हैं, किन्तु मैं तो सब कुछ समझ रहा हूँ। अहो, हम बुद्धिमान होकर भी राज्य और सुख के लोभ से अपने ही कुल को नष्ट करने के लिये उद्यत हो रहे हैं। यदि मुझे शस्त्ररहित होने पर ये शस्त्रधारी मार दें तो वह भी मेरे लिये कल्याणकारी होगा।" शोक से उद्विग्न अर्जुन यह कहकर तथा धनुष बाण त्याग कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। मोहजन्य विषाद का प्रभाव पहले अर्जुन के मन पर, तदुपरान्त उसके शरीर पर हुआ तथा वह अत्यन्त दयनीय हो गया। विषाद के कारण उसके मन का चिन्तन भी दोषमय हो गया। वीर अर्जुन के मन में मोहजनित कायरता आ गयी, यद्यपि वह उसे करुणा समझ रहा था। उस के मन की विचित्र दशा थी। वास्तव में शूरवीर अर्जुन व्यामोह के कारण अन्त-र्द्वन्द्व में फंस कर आन्तरिक पीड़ा सहने लगा तथा उसके मनोबल का क्षय हो गया।

जिस अर्जुन ने अज्ञातवास में विराट् की गायें कर्ण से छुड़ायी थीं, शिव के साथ युद्ध कर अपने प्रचण्ड शौर्य से पाशुपात अस्त्र प्राप्त किया था तथा सदैव वीरता प्रदर्शित की थी, उसे रणक्षेत्र के मध्य में शोक-संतप्त देख कर श्रीकृष्ण ने उसके प्रसुप्त साहस को जगाने तथा मनोबल को ऊँचा करने के लिये युक्ति-युक्त उपदेश दिया, जो मानव मात्र के लिये अमर सन्देश है।

श्रीकृष्ण ने शोकाभिभूत एवं अश्रुपूर्ण अर्जुन को प्यार से फटकारते हुए कहा—"अर्जुन, रण के मध्य में समुपस्थित होने पर तुझ में यह अज्ञान कहाँ से आ गया? इस क्लैव्य (कायरता, साहस का नितान्त अभाव) को छोड़, यह तेरे लिये शोभनीय नहीं है। हे परंतप, हृदय दौर्बल्य को छोड़कर युद्ध के लिये खड़ा हो जा। उठ, खड़ा हो, युद्धकर। **क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ गीता २।३॥**

अर्जुन ने कहा कि गुरुजन को मारने के बजाय इस लोक में भिक्षा-वृत्ति ग्रहण करना भी कल्याणकारक है। अत्यन्त भ्रान्त होकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया—"मैं संमूढ़ हो गया हूँ। मैं अब आपका शिष्य हूँ तथा आपकी शरण में हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिये, मेरा मार्गदर्शन कीजिये। मुझे वह उपाय नहीं सूझ रहा है जो कि मेरी इन्द्रियों को सुखा देने वाले शोक को दूर कर सके।"

श्री कृष्ण ने हंसते हुए उससे कहा—तू शोक न करने योग्य बातों के लिये शोक करता है तथा पण्डितों के से वचन कहता है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा की अमरता पर बल डालते हुए कहा—"शरीर तो नाशवान् है किन्तु आत्मा अमर है, अतएव कौन किसे मार सकता है? दुःख और सुख, लाभ और हानि तथा जय और पराजय को समान मानकर कर्त्तव्य-बुद्धि से युद्ध करने से पाप नहीं लगेगा। उठ, खड़ा हो, युद्ध कर। **तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। गीता २।३७।। ततो युद्धाय युज्यस्व। गीता २।३८।। छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठ उत्तिष्ठ भारत ।। गीता ४।४२।।** मन में सम होकर स्वधर्म को पहिचान और कर्म कर। कर्त्तव्य-मार्ग पर डट कर परिस्थिति का सामना कर, भाग मत। मनुष्य का कर्म करने मात्र में अधिकार है तथा फल की वासना छोड़ कर अनासक्त भाव से कर्म करना ही श्रेयस्कर है। मन की समता ही तो योग है। मोह त्याग कर कर्म करना कर्मकौशल है। मोह रूपी दलदल से पार होने पर बुद्धि निश्चल एवं सम हो जायेगी तथा स्थितप्रज्ञता (ब्राह्मी स्थिति) प्राप्त हो जायेगी। मनुष्य कामना पर जय पाकर शान्ति प्राप्त कर लेता है तथा मन शोक से मुक्त हो जाता है। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर बुद्धि मोह में नहीं फंसती है।"

स्थितप्रज्ञता की चर्चा करते हुऐ श्रीकृष्ण ने कहा—"प्रसाद गुण धारण करने पर अर्थात् चित्त को निर्मल एवं प्रसन्न रखने से समस्त मानसिक क्लेश की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि जिसका मन प्रसन्न रहता है उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते**
**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। गीता २।६५।।**

प्रसाद (प्रसन्न रहना) आत्मा का गुण है तथा स्वाभाविक है। संतो की फकीरी भाषा में इसे ही मस्ती **(अपने भीतर स्वयं ही तुष्ट—आत्मन्येवात्मना तुष्टः। गीता २। ५५)** कहा गया है। प्रसाद गुण का स्फुरण होने पर मन के समस्त क्लेशों का निराकरण हो जाता है, जैसे प्रभात होने पर अन्धकार का। आन्तरिक प्रसन्नता का स्फुरण होने पर मन निरुत्साह नहीं रहता तथा वह स्वस्थ हो जाता है। आन्तरिक प्रसन्नता मनोबल को ऊँचा करके मनुष्य में साहस भर देती है तथा मनुष्य आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं से संघर्ष कर उन पर विजय पा लेता है। मनुष्य को अपनी सुरक्षा और शान्ति की खोज भी अपने भीतर ही करनी चाहिये। वह स्वयं ही अपने मन को नीचे गिराता है तथा स्वयं ही उसे ऊपर उठा सकता है। मन एक घोड़े की भाँति है जो साधा जाने और संयमित होने पर लक्ष्य तक पहुँचा सकता है, अन्यथा नीचे गिरा सकता है। मन को सम्भालना आवश्यक है।

वास्तव में मन की हार सबसे बुरी हार होती है। "मन के हारे हार है मन के जीते जीत।" भीतर निरन्तर प्रसन्न रहने वाले मनुष्य की आन्तरिक शक्तियाँ बढ़ती ही रहती हैं और हार होने पर भी हार उसे हरा नहीं सकती। प्रसन्नचित्त मनुष्य का मन अजेय रहता है तथा पराजय से ऊपर उठा रहता है। प्रसाद गुण के विकसित

विषाद जब मनुष्य को भावावेश से हटाकर समाधान की खोज में प्रवृत्त करके विचार जगाने लगता है, वह एक योग हो जाता है। अर्जुन का विषाद् विषादयोग है, क्योंकि उसने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करके समाधान खोजने का गम्भीर प्रयत्न किया। उसने कहा—हे कृष्ण, मैं धर्म समूढ हो गया हूँ, आप की शरण लेता हूँ तथा कृपया मेरा समाधान कीजिये। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**

वास्तव में विषम परिस्थिति का सामना करने के लिये उसकी चुनौती को स्वीकार करके और उसे अच्छी प्रकार समझ कर साहस जुटाने का वज्र संकल्प लेना आवश्यक होता है। मनुष्य स्वयं ही अपने मन को नीचे, निराशा में, गिराता है, तथा स्वयं ही उसे ऊपर, आशा में, उठा सकता है। अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपने को अधोगति में नहीं गिराना चाहिये क्योंकि जीवात्मा स्वयं अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ गीता ६।५॥**

दूसरे व्यक्ति पर मनुष्य कब तक निर्भर रह सकता है? दूसरा व्यक्ति कब तक किसी को सम्भाल सकता है? मनुष्य को जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। उत्तम संकल्प मनुष्य के जीवन को उत्तम दिशा दे सकता है और सफलता का सूत्रपात कर सकता है। संकल्प द्वारा साहस एवं आत्मशक्ति को जगाया जा सकता है। संकल्प द्वारा भीतर प्रसुप्त असीम शक्ति का जागरण एवं उसका सदुपयोग करना भी सम्भव है।

कठिन समस्या के समुपस्थित होने पर आत्मनिरीक्षण द्वारा घृणा, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि हानिकारक दुर्गुणों का निराकरण करके आत्मपरिष्कार करना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। मन निर्मल होने पर सशक्त हो जाता है और मनुष्य दृढ़तापूर्वक समस्या का हल कर सकता है। आत्मपरिष्कार होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व ही बदल जाता है और जीवन-शैली में स्वस्थ परिवर्तन आ जाता है। पुरानी भूलों की पुनरावृत्ति न करने तथा सन्मार्ग पर चलकर समस्या का हल करने का संकल्प लेना विजय मार्ग को प्रशस्त कर देता है।

साहस के साथ विवेक (जोश के साथ होश) होने पर ही उसे दिशा मिल सकती है तथा जीवन उपयोगी हो सकता है। अतिसाहस (समुद्र को तैर कर पार करने, पर्वत से कूद जाने आदि का अतिसाहस) तथा दुस्साहस (माता-पिता, गुरुजन का अपमान करने आदि का दुस्साहस) को विवेक द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। विवेकशून्य होने पर साहस एवं शौर्य मात्र भावावेश बनकर आत्मघाती हो जाते हैं। भावावेश एवं उत्तेजना के समय सहसा कोई निर्णय नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे मनुष्य के विवेक का अपहरण कर लेते हैं। **"सहसा विदधीत् न क्रियां, अविवेकः परमापदां पदम्।"** सहसा कार्य नहीं करना चाहिये, अविवेक विपत्ति ला देता है। **सहसा करि पाछे पछिताहीं, कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं।** विवेक मनुष्य को सन्तुलित

रहकर सावधान रहना तथा नीतिकुशल होना भी सिखाता है। विवेकवान् व्यक्ति प्रतिकूल व्यक्ति एवं परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेता है तथा विवेकरहित व्यक्ति अनुकूल व्यक्ति एवं परिस्थिति को प्रतिकूल बना लेता है। विवेक मनुष्य को दुर्व्यसन, चिन्ता, भय, शोक, परनिन्दा, द्वेष, अहंकार आदि दोषों से बचाकर रचनात्मक कार्यों में लगा देता है। साहस और विवेक के सहारे मनुष्य जीवन को सुखमय बना सकता है।

जीवन एक सुनहला वरदान है। हमें मुस्कराकर जीना सीखना चाहिये। प्रभु-प्रार्थना का सहारा लेने पर मनुष्य अपने को अकेला या असहाय नहीं समझता है। प्रार्थना द्वारा प्रभु के साथ जुड़कर साहस और विवेक के सहारे पुरुषार्थ द्वारा मनुष्य अवश्य ही संकटों को पार कर सकता है और जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है। गीता का अमर सन्देश है—'प्रभु का स्मरण करते हुए साहसपूर्वक पुरुषार्थ करो।' मामनुस्मर युध्य च (गीता।८।७)

३

# मन की महिमा

मन की विचित्र महिमा है। जिसने मन के रहस्य को जान लिया उसने एक अद्‌भुत ज्ञान प्राप्त कर लिया। मन के सहारे के विना जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई उपलब्धि सम्भव नहीं होती।

वास्तव में मन ही मनुष्य है। यदि मन अच्छा है तो मनुष्य अच्छा है; यदि मन निकृष्ट है तो मनुष्य निकृष्ट है। यदि मन वलवान् है तो मनुष्य वलवान् है; यदि मन निर्वल है तो मनुष्य निर्वल है। यदि मन सुखी है तो मनुष्य सुखी है; यदि मन दुःखी है तो मनुष्य दुःखी है। यदि मन स्वस्थ है तो मनुष्य स्वस्थ है; यदि मन अस्वस्थ है तो मनुष्य अस्वस्थ है। यदि मन पवित्र है तो मनुष्य पवित्र है; यदि मन अपवित्र है तो मनुष्य अपवित्र है।

मन ही मनुष्य की समस्त शक्तियों का केन्द्र है। मन की सवलता मनुष्य की सवलता है। मन व्यक्तित्व का दर्पण होता है, मन के दर्पण में सव कुछ दीख जाता है—अच्छा हो अथवा वुरा। मन से कुछ छिपाया नहीं जा सकता है। हम जग से भाग सकते हैं, किन्तु मन से दूर नहीं भाग सकते। धरती पर मनुष्य के लिये उसके अपने मन से वड़ा अथवा अधिक महत्वपूर्ण कोई नहीं है। वास्तव में मनुष्य अपने मन में ही अपना जीवन जीता है।

व्यक्तित्व का आन्तरिक विकास वास्तव में मानसिक विकास ही है। मन की उपेक्षा करना व्यक्तित्व की उपेक्षा है। मन को संवार कर ही व्यक्तित्व को संवारा जा सकता है। मन की उचित शिक्षा-दीक्षा मनुष्य के सुखी जीवन के लिये परमावश्यक है।

मन की गरीवी सवसे वड़ी गरीवी है। भौतिक धन की गरीवी को सहन करना सरल है, किन्तु मन की गरीवी असह्य एवं भयंकर होती है। संसार की समस्त सुख-सामग्री हस्तगत होने पर भी मन की गरीवी मनुष्य को शोचनीय वना देती है।

किसी भी युद्ध में अस्त्र-शस्त्र की हार हो जाना एक साधारण घटना है,

किन्तु मन की हार मनुष्य को दयनीय बना देती है। मन का ध्वस्त एवं परास्त हो जाना मृत्यु की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर है। 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। यदि मन थक गया तो कोई जड़ी-बूटी उसमें ओज नहीं भर सकती। संसार में जीने के लिये और विषय परिस्थितियों का सामना करने लिये एक मजबूत मन की आवश्यकता होती है। विवेक और विचार के सहारे मन को पवित्र और सबल बनाया जा सकता है।

मन की दासता ही वास्तविक दासता है, मन की मुक्ति ही मनुष्य की मुक्ति है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मन ही बन्धन और मोक्ष का मूल कारण होता है। यदि मन मुक्त है तो मनुष्य मुक्त है। बाह्य बन्धन और मुक्ति का कोई महत्व नहीं है। मन से ही पाप होता है, मन से ही मनुष्य पापमुक्त होता है। पानी से कीचड़ उत्पन्न होती है तथा पानी से ही धुलती है। मनुष्य अपने मन को पवित्र बनाकर बन्धनमुक्त हो सकता है। मन भावनाओं का समुच्चय होता है। भावना पवित्र करने से मन पवित्र हो जाता है।

मन एक शुभ्रवस्त्र की भांति होता है। श्वेत वस्त्र को जैसे भी रंग में डुबो देंगे, उसका वैसा ही रंग हो जाता है। मन को भौतिकता में डुबोने पर वह भौतिकवादी हो जाती है, अध्यात्म में निमग्न करने करने पर अध्यात्मवादी हो जाता है। मन ही कुपथगामी अथवा सुपथगामी होकर मनुष्य के आचरण के लिये उत्तरदायी होता है।

मन की सरलता मन में सहज प्रसन्नता भर देती है तथा मन की कुटिलता मन को बोझिल बना देती है। सरल मन सहजमुक्त हो जाता है तथा कुटिल मन उलझनों में फंसा रहता है। सरलता का अर्थ है मन, वचन और कर्म की एकता। मन की बालवत् सरलता मनुष्य को सर्वेश्वर के समीप ला देती है। सरलता सुख के द्वार खोल देती है।

सरल व्यक्ति सत्यनिष्ठ होती है। सत्य के रास्ते सरल होते हैं स्पष्ट होते हैं और मनोरम होते हैं। सरल व्यक्ति ही सत्य की अनुभूति कर सकता है, सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। सरलता छोड़ने पर विद्वत्ता विष बन जाती है, विद्या कुविद्या हो जाती है। सत्य का अनुसंधाता सरल होता है। सत्य की खोज एवं सत्य के आचरण में सुख निहित होता है।

कभी-कभी कुपंथ में फंसकर मन स्वयं ही विषाद की काली चादर ओढ़ लेता है। कोई भी अन्य व्यक्ति उसे उतार कर फेंक देने में हमारी सहायता नहीं कर सकता है। हम स्वयं ही अपनी सहायता कर सकते हैं। गुरु भी दीपक ही दिखा सकते हैं किन्तु हमें स्वयं ही अपनी सहायता करना पड़ेगी। जीवन में हमें अपने ही पैरों से उठना, चलना और आगे बढ़ना पड़ेगा। हम स्वयं ही अपने श्रेष्ठ मित्र हैं, उद्धारक बन्धु हैं तथा हम स्वयं ही अपने घोर शत्रु हैं।

को वश में करके, दुर्जय काम रूप शत्रु को मार दो। आत्मज्ञान से ही आत्मानन्द प्राप्त होता है। आत्मानन्द (निजानन्द) से मन स्थिर होता है। "निज सुख विनु मन होई कि थीरा"।

कामत्यागस्तपः स्मृतम् (गीता) अर्थात् काम का त्याग तप कहलाता है।

संसार असार है और इसकी समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं तथा उनका परिग्रह दुःखदायी है। आत्मतत्व स्थायी, सत्य तथा अमर है। अतएव जीव के लिये आत्मानुभूति परम शान्तिकारक है। संसार की भोग्य-वस्तुओं की भ्रमकारक मरीचिका से मुक्त होने लिये एवं पराशान्ति की उपलब्धि के लिये काम का त्याग परमावश्यक है। भोगों की तृप्ति कभी नहीं होती है, उसका उपाय ज्ञान द्वारा निवृत्ति होना है। ज्ञान होने पर काम समूल नष्ट हो जाता है।

काम के साथ क्रोध जुड़ा हुआ है। संसार के विषयों का चिन्तन करने से व्यक्ति के मन में उन विषयों के लिये आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न हो जाती है और कामनापूर्ति में विघ्न-बाधा होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से अविवेक अथवा मूढ़भाव उत्पन्न होता है और मूढ़भाव से स्मृति-विभ्रम हो जाता है तथा स्मृति-भ्रंश हो जाने से बुद्धिनाश हो जाता है और व्यक्तिश्रेय-साधन से गिर जाता है। मनरूपी हाथी पर संयम और विवेक का अंकुश होना आवश्यक है। वास्तव में मन का दमन तो कठिन है, किन्तु उसे उत्तम दिशा में लगा देना सम्भव है तथा वही संयम है। इस मनोविज्ञान की चर्चा करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि मन को वश में रखने वाला व्यक्ति इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करते हुए भी प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है। (गीता २—६२, ६३, ६४, ६५)

सत्पुरुष अपने प्रयत्न में व्यक्तिगत कामनाओं से प्रेरित नहीं होता है बल्कि कर्त्तव्य भावना से अनुप्राणित होकर कर्म करता है। सत्पुरुष घृणा के स्थान पर प्रेम तथा क्रोध के स्थान पर क्षमा धारण करता है। क्रोध में उत्तेजित होने पर मन की शक्ति क्षीण हो जाती है। किसी अन्याय पर रोष प्रकट करना और दृढ़तापूर्वक कोई पग उठाना उचित है किन्तु क्रोधावेश तो सदैव हानिकारक एवं पतनकारक होता है।

मन एक क्षेत्र है। पुण्य-पाप के वीज मन में ही वोये जाते हैं। अपने सत्कर्म अथवा दुष्कर्मों की खेती हमें ही काटनी पड़ती है। हमारे मन की पवित्रता, भावनाओं की पवित्रता, हमारे सुख एवं शान्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

लोभपूर्ण गृद्धदृष्टि भी मन को दूषित कर देती है। लोभ मनुष्य को परिग्रह की ओर प्रवृत्त करता है। मन को प्रलोभन-जयी होना चाहिये। लोभदृष्टि होने पर अनन्त लाभ भी अल्प ही प्रतीत होता है और मन को सन्तोष प्राप्त नहीं होता है। जब लोभ मन को पकड़ लेता है, लाभ लोभ शमन करने के स्थान पर उसे विवृद्ध कर देता है। **जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।**

मद मनुष्य के मिथ्या अहंकार से उत्पन्न होता है और मन को उच्छृंखल बना देता है। धनमद, ज्ञानमद, प्रभुतामद तथा मानमद मनुष्य को उन्मत्त एवं असन्तुलित बना देते हैं।

मदमत्त व्यक्ति विवेक खो बैठता है और पशुवत् आचरण करने लगता है। मिथ्या अहंभाव के उन्मूलन का उपाय बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अहंकार से विमोहित व्यक्ति "मैं कर्ता हूँ" ऐसे मान लेता है। "अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।" गीता ३।२७। मनुष्य अज्ञानवश अपने को कर्ता मानकर अहंकार करता है तथा नानाविध दुःख भोग ले लेता है। "नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्" गीता ५।८। ज्ञानी सब कुछ करता हुआ भी "मैं कुछ नहीं करता हूँ" ऐसा मानता है।

जो व्यक्ति प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म करता है तथा समस्त कर्म का समर्पण प्रभु को कर देता है, वह भी अहंभाव से विमुक्त हो जाता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ पुण्य कार्य करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है, उन सबको प्रभु के अर्पण करने पर वह अहंकार विमुक्त होकर कर्म-बन्धन से भी छूट जाता है। (गीता ९।२७-२८)

मोह की गणना भी प्रमुख मनोविकारों में ही की जाती है। मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। मोह के कारण ही मनुष्य में कायरता आ जाती है। मोहग्रस्त व्यक्ति कभी ठीक प्रकार से कर्त्तव्यपालन नहीं कर सकता है। मोह ही चिन्ता और भय का प्रधान कारण है। मोह का काम, क्रोध, लोभ और मद से अटूट सम्बन्ध है। मोह ने अर्जुन जैसे वीर को क्लीब बनाकर उपहसनीय बना दिया था। मोह-ग्रस्त व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्य में भेद नहीं कर पाता है। मोहपाश से मुक्त होने पर ही बुद्धि स्वस्थता को प्राप्त होती है। (गीता २।५२)

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ने वाले इन मनो-विकारों के उदात्तीकरण का उपाय बताया है—भगवत् शरणागति; प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण, प्रभु के प्रति भक्तिभाव से ओतप्रोत होना तथा सर्वत्र प्रभु का दर्शन करते हुए अनासक्त भाव से कर्त्तव्यपालन करना। भगवद्भक्ति में निमग्न होने पर काल्पनिक भय और चिन्ता स्वतः विलुप्त हो जाते हैं और मन पूर्णतः स्वस्थ हो जाता है। प्रभुभक्त नम्र, निरभिमान, मृदु, क्षमाशील, उदार, सहृदय, परोपकारी, सेवापरायण, त्यागी और तपस्वी होता है और स्वयं सुखी रहकर संसार में सर्वत्र सुख का संचार करता है। वह प्राणिमात्र को हृदय से लगाता है और उसका व्यक्तित्व प्रेम से परिपूर्ण होता है।

पवित्र मन में समस्त जगत् की घटनाएँ सूक्ष्म रूप से प्रतिबिम्बित होती हैं। एक छोटे से कटोरे के स्वच्छ जल में, अथवा स्वच्छ जल बिन्दु में भी, आकाश प्रतिबिम्बित हो जाता है किन्तु गन्दे महासागर में भी कुछ नहीं दीखेगा। छोटी सी मणि में प्रतिबिम्ब दीख जाता है किन्तु मिट्टी के बड़े पात्र में नहीं। पवित्र मन ईश्वर का

धाम होता है। तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ मन है और पवित्र वस्तुओं में मन परम पवित्र है। **तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः। (वेदव्यास)।**

मन आपका घर है जहाँ सुख और शांति का खजाना भरा पड़ा है किन्तु राग-द्वेष आदि चोर उसे लूट रहे हैं। प्रेम, क्षमा, सरलता, सेवाभाव, कृतज्ञता, प्रभुभक्ति, मन के रत्न हैं जिनसे मन में उजाला रहता है। इन रत्नों की रक्षा करना आपका परम कर्त्तव्य है। यही आपका सच्चा स्वार्थ है। मन को पवित्र करके उसमें कुछ समय बैठने से शक्ति प्राप्त होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित मानवधर्म की विशद व्याख्या की है और दैवी सम्पदा तथा आसुरी सम्पदा का भेद करते हुए मानो मन के लिये ग्राह्य सुपंथ तथा त्याज्य कुपंथ की चर्चा की है। समस्त गीता-दर्शन ही मनोविज्ञान एवं आत्मज्ञान का अनुपम कोष है।

अभय, आन्तरिक स्वच्छता, सात्विक दान, इन्द्रिय दमन, पुण्य कार्य, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, सेवा, शान्ति, अपैशुन (निन्दा न करना), प्राणियों के प्रति करुणा, असंग, उचित लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह (किसी के प्रति शत्रुभाव न होना), नातिमानिता (अपने को पूज्य मानकर अभिमान न करना), ये सब गुण मन को स्वास्थ्य, बल और शान्ति प्रदान करते हैं तथा दम्भ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, घृणा, द्वेष, कठोर वाणी, असत्य, दूसरों का अपकार करना, क्रूरता, मद, बदला लेने की भावना, हिंसा, चोरी, भ्रष्टाचरण, चिन्ता, वासना, विषयभोगरति आदि मन की शक्तियों को नष्ट करते हैं और अशान्ति देते हैं (गीता १६।१-४)। मानसिक विकास, चरित्र निर्माण तथा सुख एवं शान्ति प्राप्ति के लिये विद्योपार्जन तथा ज्ञानार्जन की अपेक्षा सद्गुणों का संचय करना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। निर्मल, दृढ़ मन त्रोण के समान रक्षा करता है तथा शम, यम, नियम उसके बाण होते हैं।

**अचल अमल मन त्रोण समाना। सम जम नियम सिली मुख नाना।।**

मन तो चंचल है किन्तु बलवान् है। उसका निग्रह कैसे सम्भव हो सकता है? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि निस्सन्देह मन चंचल और दुर्निग्रह है किन्तु अभ्यास (बारम्बार प्रयत्न) तथा वैराग्यभाव से मन वश में आ जाता है (गीता ६।३४, ३५)। मन को वश में करके, चित्त और इन्द्रियों को संयम में रखकर ही मनुष्य सबल हो पाता है। मन को एकाग्र करने पर ही योगाभ्यास सम्भव होता है (गीता ६।१२, १४)। वास्तव में गतिशील और चंचल मन को स्वस्थ दिशा में लगाना ही मन को वश में करना है क्योंकि मन को सदा के लिये स्थिर एवं निश्चल करना असम्भव है। "भामती" टीकाकार वाचस्पति मिश्र मन की एकाग्रता का ज्वलन्त उदाहरण हैं। चीनी दार्शनिक कन्फ्यूशस ने मन को वश में रखने के सम्बन्ध में उपदेश किया कि हम कान से सुनें, मन से न सुनें, जीभ से चखें, मन से न चखें इत्यादि। उनका आशय था

कि मन में साक्षीभाव रखने तथा मन को भोग-विषयों में अलिप्त रखने से मन इन्द्रियों के वशीभूत न होगा, स्ववश में रहेगा।

मन की बिखरती हुई शक्तियों को समेटकर किसी उचित दिशा में उनका उपयोग करना एक कुशलता है। विश्वास कीजिये कि अपने सोचने के तरीके बदलने अथवा विचार को उत्तम दिशा देने से मन के संवेगों, भावावेशों को संयमित करना तथा मन को सन्तुलित करना नितान्त सम्भव है। मन विविध प्रकार की कल्पना करता रहता है। हमें कल्पना को भी काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह से मुक्त रखनी चाहिये। हमारी कल्पना भी प्रेम और करुणा से ओतप्रोत हो। यदि मेरे पास अपार धन, प्रभुता, सत्ता और शक्ति हो तो मैं स्वार्थपूर्ण भोग से दूर रहकर उसका उपयोग जनसेवा के लिये करूंगा—यह स्वस्थ कल्पना है।

मन की शक्तियाँ निस्सीम होती हैं। मन सहज पवित्र होता है तथा कभी झूठ नहीं कहता है। जीभ झूठ बोलती है, मन तो भीतर सत्य ही कहता रहता है। अन्तःकरण के प्रतिकूल मिथ्या आचरण करने से तथा कुकर्म के साथ समझौता करने से मन निर्बल होता है। आशा और निराशा से ऊपर उठकर मन के साथ मैत्री स्थापित करके मन में सद्गुणों का समावेश करना चाहिये।

सात्विक पुरुष का मन शान्ति और शक्ति का संस्थान होता है तथा वह उत्तोलक की भाँति शोक, मोह में फंसे हुए अन्य जन के मन को ऊपर उठाकर उसका उद्धार कर सकता है। मन की शक्तियाँ अद्भुत एवं अनन्त हैं। हम मन की गुप्त शक्तियों को जगाना और उनका उपयोग करना भूल गये हैं। वशिष्ठ कहते हैं— **अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात् शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्ति धारणात्॥ (योग वाशिष्ठ)**। विष के प्रति मन द्वारा आग्रहपूर्वक अमृत की भावना कर लेने पर वह अमृत ही हो जाता है। घोर शत्रु के प्रति मन में मित्र की भावना दृढ़ कर लेने से वह मित्र ही हो जाता है। मीरा के हाथों में आकर विष अमृत और सर्प मणिहार बन गया था। भावना में अमित बल होता है। भावना के सहारे सृष्टि की संरचना होती है। हमारी भावना के अनुरूप ही हमारी समस्त शक्तियाँ अनजाने ही प्रवाहित होने लगती हैं। सात्विक पुरुष के प्रेम और अहिंसा की भावना का क्रूर पुरुष की घृणा एवं हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक सुदूरगामी प्रभाव होता है। सात्विक पुरुष भावना के बल से हृदय परिवर्तन कर सकते हैं तथा चतुर्दिक् शान्ति प्रसारित कर सकते हैं। भावना की सामर्थ्य अनन्त है। वशिष्ठ कहते हैं—**यथा भावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता, असत्यं सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा। (योगवाशिष्ठ)**। अर्थात् संसार के सब पदार्थों का रूप हमारे चिन्तन पर निर्भर है। चिन्तन करते रहने से असत्य पदार्थ भी (अनुभव में) सत्यता को प्राप्त हो जाता है। पवित्र मन में उत्तम संकल्प जगा कर अचिन्त्य शक्ति का अर्जन किया जा सकता है। शुभ कर्म करने से पूर्व उत्तम संकल्प के द्वारा मन को सशक्त कर लेना मानो आधी कार्य-सिद्धि प्राप्त करना है।

**यज्जाग्रतोदूरमुदैति दैवं, तदुसुप्तस्य तथैवेति।**
**दूर गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥**

मन मन्दिर है जिसमें भीतर प्रभु स्वयं विराजमान हैं। वास्तव में शुद्ध मन परमात्मा ही है। **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। गीता २०।७२।** शुभ विचार एवं कर्म में रत रहकर, निरन्तर अन्धकार से प्रकाश की ओर उत्साहपूर्वक बढ़ते हुए, स्वच्छ मन में ही आनन्द स्वरूप प्रभु का दर्शन कर सकते हैं।

प्रमाद, आलस्य और उलझन में पड़े मन से कहिये—उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों से सीखते हुए, साहस से, सन्मार्ग पर आगे बढ़ो।

**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**

४

# भगवान् महावीर और अहिंसा

भगवान् महावीर भारत के आध्यात्मिक महाकाश के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। महावीर एक ऐसे ज्योतिपुंज हैं जिसने समस्त धराधाम को अपनी तेजस्विता से आलोकित कर दिया तथा अहिंसा, प्रेम और करुणा का अमर सन्देश देकर मानवमात्र को नव-चेतना प्रदान की। महावीर का जीवनदर्शन वस्तुतः सनातन सत्य की ही अभिव्यक्ति है। उनके उपदेश वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को सुख एवं शान्ति देने में सक्षम हैं।

समाज मे व्याप्त चतुर्दिक् हिंसा के वातावरण में महावीर ने उद्घोष किया—**अहिंसा परमो धर्मः**! महावीर ने प्रचलित हिंसात्मक मान्यताओं और रूढ़ियों के विरोध में सशक्त स्वर उठाकर समाज को पाखण्ड से उन्मुक्त किया। तत्वदर्शी महावीर के उपदेश का मेरु-दण्ड अहिंसा है। कर्म-काण्ड के नाम पर प्रकीर्ण हिंसा को महावीर ने चुनौती दी और अन्धविश्वास पर कुठाराघात किया। इस रूप में उन्हें क्रान्तिकारी कहा जा सकता है, किन्तु वास्तव में महावीर तीर्थंकर सन्त थे। उनकी आत्मा समाज में व्याप्त शोषण, स्वार्थपरता, परिग्रहजन्य विषमता, निर्दयता और हिंसा को देखकर चीत्कार कर उठी थी और दया-द्रवित होकर उन्होंने अहिंसा तथा प्रेम का पाठ सिखाया।

सत्य की साधना के लिए तरुण राजपुत्र महावीर ने तीस वर्ष की आयु में राज्य वैभव तथा अतुल धन का प्रलोभन छोड़कर सन्यास ले लिया और तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया। तदनन्तर उन्होंने देशाटन किया और जीव कल्याण का मार्ग दिखाकर मानव-मात्र का अकथनीय उपकार किया। उनकी वाणी में ओज और व्यक्तित्व में अद्भुत सम्मोहन था। उनके आध्यात्मिक तेज ने सब को चमत्कृत कर दिया और उनकी ज्ञानज्योति से प्रकाश विकीर्ण होने लगा। महावीर भारत के क्षितिज पर देदीप्यमान ज्योति बनकर चमके और उनका ध्रुव प्रकाश सदैव मानवमात्र का पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

अहिंसा के मूर्तिमन्त रूप महावीर के जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जहाँ हिंसक पशु भी उनके सान्निध्य में आकर हिंसा वृत्ति को भूल जाते थे अथवा उनकी हिंसात्मकता निष्प्रभाव हो जाती थी। ये घटनाएँ प्रतीकमात्र हो सकती हैं, किन्तु उनके पृष्ठ में निहित यह महान् तथा निर्विवाद तथ्य है कि हिंसक प्राणी अहिंसक सन्त के सन्निकट पहुँच कर हिंसावृत्तिशून्य हो जाते हैं; उनकी हिंसा निष्फल हो जाती है तथा अहिंसा अमोघ अस्त्र सिद्ध होता है। पतञ्जलि ऋषि कहते हैं कि अहिंसा सिद्ध होने पर अहिंसक महात्मा के पास पहुँचने वाले प्राणी वैरत्याग कर देते हैं—अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। शुद्ध चिन्तन का महत्व बतलाते हुए वशिष्ठ मुनि कहते हैं कि संसार में सब पदार्थों का रूप भी हमारे चिन्तन से प्रभावित होता है। चिन्तन करने से विष भी अमृत हो जाता है और शत्रु भी मित्र हो जाता है। अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात्। शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्ति धारणात्।

महावीर के समीप गौ और व्याघ्र परस्पर मैत्रीभाव से युक्त होकर व्यवहार करते थे। यदि कोई अतिक्रूर प्राणी महावीर पर प्रहार करता था तो उसका आघात निष्फल हो जाता था। एक भीम काय हाथी अपने तीव्र दाँतों से महावीर पर आक्रमण करके हताश लौट गया तथा एक विषधर सर्प ने भयंकर फुंकार करके उन्हें काटा, किन्तु वे निश्चल एवं शान्त रहे और सर्प का विष उन पर प्रभाव नहीं कर सका। साधनाकाल में भी महावीर सर्प से भयभीत नहीं होते थे और अडिग रहकर सर्प को प्रेम-पूर्वक पकड़ लेते थे और दूर छोड़ आते थे। कुख्यात नागराज चण्डकौशिक के क्षेत्र में पहुँचने पर महावीर ध्यानलीन होकर कायोत्सर्ग मुद्रा में संस्थित हो गये तथा वृहद्काय नागराज के द्वारा शरीर को लपेटने और और काटने पर भी महावीर पर किंचिन्मात्र प्रभाव न हुआ। ध्यानक्रिया से उपरत होकर महावीर ने प्रेम एवं आत्मीयता से नागराज पर दृष्टि डाल कर उसकी विषमयता का शमन कर दिया तथा यह प्रमाणित कर दिया कि प्रेमामृत भीषण विष को परास्त कर देता है, अहिंसा हिंसा को पराभूत कर देती है और हिंसक अहिंसक के समक्ष नितान्त हतप्रभ हो जाता है।

महर्षि रमण के जीवन में भी ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं जो इस सत्य को प्रमाणित करती हैं। महर्षि रमण सदैव जाग्रत समाधि में स्थित रहते थे और उन्हें समस्त संसार ब्रह्ममय भासता था। एक बार जब वह शिलाखण्ड पर बैठे थे, एक विषैला सर्प उनके पैर पर चढ़कर चला गया तथा उसे पैर और पाषाण में भेद नहीं प्रतीत हुआ। शिष्यगण ने आश्चर्यचकित होकर इसका कारण पूछा। महर्षि रमण ने उत्तर में कहा—"सर्प भूमि पर फण से प्रहार नहीं करता है, क्योंकि भूमि अंहकारजन्य अवरोध प्रस्तुत नहीं करती है। अंहकार से ही भेद तथा अवरोध उत्पन्न होते हैं। अंहकार के अभाव में वैषम्य अथवा अवरोध नहीं रहता और वैर का प्रश्न नहीं उठता है।"

अनेक अहिंसक सन्त वन में विचरण करते हैं और सर्पो के मध्य में रहने तथा उनको पकड़ने में उन्हें किंचिन्मात्र भी भय नहीं लगता है। स्वामी रामतीर्थ वन में सिंह को आत्मस्वरूप मानकर सहर्ष उसके समीप चले जाते थे।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध नाटककार नोयेल कावर्ड का मत था कि प्रेम देने से प्रेम मिलता है और घृणा देने से घृणा मिलती है। नोयेल कावर्ड कहते थे कि हमारी भावना का प्रभाव सुदूरगामी होता है। प्रेम अमृत है और घृणा एवं क्रोध विष है। विश्वास की दृढ़ भावना से वस्तु अमृत बन जाती है और अविश्वास (एवं ईर्ष्या-द्वेष) की भावना से वही विष हो जाती है। सर्प भी विश्वास एवं अविश्वास को पहिचानता है। सर्प हमारे विश्वास-अविश्वास को परखने की कसौटी है। जहाँ विश्वास है वहाँ सर्प हिंसारहित है और जहाँ अविश्वास है वहाँ सर्प बदला लेने वाला नाग है। सर्प किसी को हानि पहुँचाने वाला प्राणी नहीं है। वह व्यर्थ ही किसी पर आघात नहीं करता है, किन्तु दुर्भावना होने पर उसकी प्रतिशोध वृत्ति जाग जाती है।

नोयेल कावर्ड ने एक सर्प पाला था जिसे वह बहुत प्यार करता था। बच्चे उसके साथ खेला करते थे। वह अपरिचित व्यक्तियों को भी नहीं काटता था, किन्तु उसने एक दिन नोयेल कावर्ड को ही काट लिया। उसने क्रुद्ध होकर कावर्ड को लपेट लिया और यदि उसका सचिव उसे तुरन्त क्लोरोफार्म सुँघा कर अचेत न कर देता तो वह उसे लपेट कर कुचल देता! कावर्ड ने कई दिनों तक इस पर विचार किया। सर्प ने अपने पोषक पर क्यों आघात कर दिया? क्या सर्प सहज कृतघ्न होता है? एक दिन कावर्ड ने यहूदियों के धर्म-ग्रंथ में पढ़ा कि अंहकार से युक्त होकर किया हुआ उपकार प्रायः सर्पदंश के रूप में लौटता है। इस सूत्र पर चिन्तन करने से उसे सर्प के काटने का रहस्योद्घाटन हो गया। कावर्ड को स्मरण हुआ कि कुछ दिनों से उसके मन में उस पालतू सर्प के प्रति आत्मीयता का भाव लुप्त हो गया था और उसने उसे चिड़ियाघर में भेजने का प्रबन्ध कर लिया था। सर्प को प्रेम के बदले में प्रेम न मिलना सहन नहीं हुआ। उसने अनेक बार प्रेमावेश में कावर्ड से लिपट-लिपट कर प्रेम पाने का प्रयत्न भी किया था, किन्तु कावर्ड को उससे घृणा होने लगी थी। अतएव अन्त में सर्प को एक दिन क्रोध आ गया और उसने आवेश में काट लिया।

मनुष्य की दुर्भावना तथा सद्भावना का प्रभाव न केवल अन्य मनुष्यों पर बल्कि हिंसक पशुओं पर भी पड़ता है। हितअनहित पशु पच्छिउ जाना। पशु-पक्षी को भी अपने हितैषी का ज्ञान-अन्तर्ज्ञान–हो जाता है। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व न केवल अपने लिए बल्कि अन्य जन के लिये भी सुख और शान्ति का स्रोत हो जाता है। राग-द्वेष और घृणा से मुक्त एवं निर्मल व्यक्तित्व का सम्मोहन कल्पनातीत होता है। अहंकार छूटने पर राग-द्वेष एवं घृणा-क्रोध भी स्वयं छूट जाते हैं। अहंकाररहित

व्यक्ति प्रकृति के साथ एकरूप हो जाता है। उसकी आत्मा से अदृश्य किरणें प्रस्फुटित होकर निकलती हैं तथा वातावरण को आध्यात्मिक बना देती है। हिंसक पशु भी उसके स्पर्श से सात्विक हो जाते हैं। सन्त फ्रांसिस पशु-पक्षियों के साथ आत्मीयता का नाता रखते थे और पशु-पक्षी उनके साथी बन गये थे।

समाज में व्यापक अशान्ति, विद्रोह, विप्लव और क्रान्ति होने का कारण अहंकारजन्य भेदभाव, विषमता एवं दुर्भावना होते हैं। समाज में उतना असन्तोष अन्न आदि किसी वस्तु के अभाव के कारण नहीं उत्पन्न होता जितना प्रशासक वर्ग एवं समृद्ध वर्ग की दूषित वृत्ति, उनके अहंकार एवं सद्भावनाविलुप्ति के कारण होता है। अहंकार से संकीर्ण स्वार्थ और शोषणवृत्ति का जन्म होता है। अहंकार की सन्तुष्टि के लिए ही मनुष्य परिग्रहपरायण, क्रूर तथा हिंसक हो जाता है। अहंकार से ही ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध एवं हिंसा उद्भूत होते हैं। घृणा एवं क्रोध अनन्तानुबन्धी होते हैं तथा पत्थर की लकीर की भाँति गहरे गड़ कर मन को दूषित कर देते हैं। कालान्तर में पीडक (हिंसक) के मन में पछतावा, किन्तु पीडित के मन में प्रतिशोध जागता है। हिंसा से हिंसा का जन्म होता है तथा हिंसा किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं होता हैं। क्रोध तप, संयम, दान का पुण्य हर लेता है। तपते यतते चैव यच्च दानं प्रयच्छति। क्रोधेन सर्व हरति तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् (वामन पुराण)। क्रोध मनुष्य के संचित यश और तप को नष्ट कर देता है। संचितस्यापि महतो वत्स क्लेशेन मानवैः। यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः। (विष्णु पुराण)। क्रोध मूढ़ों को ही होता है, ज्ञानियों को नहीं। मूढानामेव भवति क्रोधो ज्ञानवतां कुतः (विष्णु पुराण)। अहंकार के उदय होने पर सद्भावना भी लुप्त हो जाती है तथा दुर्भावना, शोषण-वृत्ति, ऊँच-नीच भाव उत्पन्न हो जाते हैं। अहंकारयुक्त मनुष्य के खोखले शब्दों का प्रभाव क्षणिक होता है। अहंकारशून्य व्यक्ति की सद्भावना का प्रभाव गहरा और स्थायी होता है। जीवन में अहंकार के उदात्तीकरण की साधना करना कल्याणकारक होती है। अहंकारशून्य होने पर व्यक्ति परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

करुणा के अवतार गौतम बुद्ध ने भी अहिंसा की दुन्दुभि बजाई थी। महापुरुषों की एक दूसरे से तुलना करना उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक महापुरुष की अपनी-अपनी विशेषता होती है, उनका अपना-अपना स्थान होता है। बुद्ध और महावीर के काल में चतुर्दिक् हिंसा व्याप्त थी, किन्तु उन्होंने हिंसा के मध्य में रहकर हिंसा की निरर्थकता को समझा और अहिंसा का प्रतिपादन किया। महावीर ने अहिंसा का अत्यन्त व्यापक अर्थ लगाया और सब प्रकार की हिंसा को पूर्णतः त्याज्य कहा। मात्र मनोरंजन के लिये आकाश में स्वच्छन्द उड़ने वाले पक्षियों तथा वन मे ही स्वच्छन्द विहार करने वाले पशुओं को पिंजड़े में बन्द रखना भी हिंसा का एक रूप है। भोजन के लिये अन्न, फल, दुग्ध आदि के उपलब्ध होते हुए मांसाहार करने

वाला व्यक्ति जीव जगत् का सत्कार नहीं करता है। अहिंसा केवल कायिक एवं बहिरंग ही नहीं, बल्कि मानसिक एवं अन्तरंग होती है। भगवान् महावीर ने पूर्ण अहिंसापालन का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया तथा जीवन में अहिंसा की महत्ता को प्रतिपादित किया। भक्त प्रह्लाद, मीरा, सुकरात, थारो, ईसा तथा शम्सतबरेज आदि अनेक सन्तों ने अहिंसा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वर्तमान युग में महात्मा गाँधी को राजनीतिक क्षेत्र में सामूहिक तथा व्यापक पैमाने पर अहिंसा के प्रयोग करने का श्रेय प्राप्त हुआ। महात्मा गांधी सन्तों की शृंखला की एक सुन्दर कड़ी हैं। महात्मा गाँधी ने सन्तपरम्परागत अहिंसा का निर्वाह राजनीति के क्षेत्र में रहकर भी किया। पश्चिम में कुछ विद्वानों और विचारकों ने जन-कल्याण की भावना से युक्त होकर क्रान्ति का प्रचार किया तथा फलतः वहाँ रक्तक्रान्ति का सूत्रपात हुआ। किन्तु महात्मा गाँधी ने कहा कि हिंसा से हिंसा का जन्म होता है तथा केवल अहिंसा से स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है, अहिंसा पर आधारित राज्य प्रणाली ही सर्वोदय की स्थापना कर सकती है। अहिंसा, प्रेम, क्षमा, सहिष्णुता, सेवा, त्याग तथा परोपकार को अपनाने पर ही ऐसे वर्ग रहित, शोषणरहित लोकतान्त्रिक समाज का निर्माण होना सम्भव है, जहाँ वास्तविक सत्ता जनता में निहित होगी तथा जिसे राम राज्य की संज्ञा दी जा सकती है। महात्मा गाँधी कहते थे कि व्यक्तिगत जीवन पवित्र होने पर ही सामाजिक जीवन पवित्र हो सकता है क्योंकि जीवन अविभाज्य होता है।

महात्मा गाँधी ने अहिंसा को विश्वशान्ति का एकमात्र साधन बताया। उन्होने अहिंसा को अन्याय के प्रतिरोध का श्रेष्ठ शस्त्र समझा। अहिंसा कायर के लिए पलायन का रास्ता नहीं है। केवल निर्भय व्यक्ति ही अहिंसा का प्रयोग कर सकते हैं। भयसंभूत नम्रता अहिंसा नहीं होती है। कायरता की अपेक्षा हिंसा अधिक अच्छी होती है, किन्तु हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक अच्छी है। हिंसा द्वारा अत्याचार का सामना करने वाला व्यक्ति 'वीर' होता है, किन्तु अहिंसा द्वारा अत्याचार का प्रतिरोध करने वाला 'महावीर' होता है। अहिंसा मनुष्य को कायर नहीं बनाती है, मोह कायर बनाता है। अर्जुन को मोह ने ही कायर बनाया था। साधारण स्थिति में आत्मरक्षा के लिये हिंसा को वीरभाव से अपनाना आवश्यक हो सकता है। उद्देश्य अच्छा होने पर हिंसा निन्दनीय नहीं होती है। सैनिक शत्रु को मार कर देशरक्षक कहलाता है। यदि सिंही और बिल्ली के द्वारा शावक को उसकी रक्षा के लिये मुँह में दबाने से दाँत लग जाये तो वह भी हिंसा नहीं है। हिंसावृत्ति से प्रेरित हिंसा निन्दनीय होती है। उदर में अथवा व्रण में कृमि होने पर कृमि नाश औषधि ली जाती है जिसका उद्देश्य आत्मरक्षा होता है। आक्रमक पशु को भी आत्म-रक्षा के लिए ताड़ित किया जाता है। किन्तु पूर्ण अहिंसक बनने के लिए धीरे-धीरे मानसिक धरातल पर हिंसा से ऊपर उठना पड़ता है। पूर्ण अहिंसक बनने पर

पर खेलने वाले का धर्म है। तलवार से लड़ते हुए जो मरता है, वह अवश्य बहादुर है, किन्तु जो मारे बिना धैर्य पूर्वक खड़ा-खड़ा मरता है, वह अधिक बहादुर है।"

"अहिंसा और कायरता परस्पर-विरोधी शब्द हैं। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ सद्गुण है, कायरता बुरी से बुरी बुराई है। अहिंसा का मूल प्रेम में है, कायरता का घृणा में। अहिंसक सदा कष्टसहिष्णु होता है। कायर सदा पीड़ा पहुँचाता है। सम्पूर्ण अहिंसा उच्चतम वीरता है।"

"सिर्फ मर जाने से हम परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होंगे। हमारे दिल में मारने वालों के लिए दया होनी चाहिए। हम ईश्वर से प्रार्थना करेंगे कि वह उन्हें (मारने वालों को) ज्ञान दे। हम तितिक्षा से उनके आघात सह लेंगे। हमारे हृदय से दया के उद्गार निकलेंगे। सिर्फ लोगों को सुनाने के लिए नहीं, बल्कि सच्चे दिल से हम उन पर दया करेंगे। यदि कोई मुझ पर हमला करता है लेकिन मुझे उस पर गुस्सा नहीं आता, वह मारता जाता है, मैं सहता जाता हूँ; मरते-मरते भी मेरे मुख पर दर्द का भाव नहीं बल्कि हास्य है; मेरे दिल में रोष के बदले दया है तो मैं कहूँगा कि हमने वीर पुरुषों की अहिंसा सिद्ध कर ली।"

"अहिंसा में इतनी ताकत है कि वह विरोधियों को भी मित्र बना लेती है और उनका प्रेम प्राप्त कर लेती है।"

अहिंसा का सक्रिय एवं धनात्मक रूप प्रेम होता है। पूर्ण अहिंसक आत्म-बल द्वारा आततायी के अत्याचार का प्रतिरोध करता है और हिंसक की तलवार को अपना शीश अर्पण करके कृत-कृत्य हो जाता है। अहिंसक के रक्त की एक-एक बिन्दु से 'वीर' उत्पन्न हो जाते हैं जो अन्ततोगत्वा अत्याचार का शमन कर देते हैं। महात्मा गाँधी ने अहिंसा के द्वारा जन-जागरण किया और शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य को चुनौती दे दी। गाँधी जी ने अहिंसा का आधार लेकर जन-आन्दोलन छेड़ दिया तथा विदेशी शासक को भारत छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। अहिंसा की असीम शक्ति तथा उसकी व्यावहारिकता विश्व के समक्ष सिद्ध हो गई। अहिंसक अकेला ही आत्मबल के द्वारा भौतिक शक्तियों के समुच्चय को परास्त एवं ध्वस्त कर सकता है। अहिंसा कोरा स्वप्न नहीं है। रावण रथी विरथ रघुवीरा।" विरथ राम रथी रावण पर विजय पा लेता है।

आत्मबल संवेत व्यक्ति ही भय रहित होता है तथा शत्रु के आघातों के प्रतिरोध में दृढ़ होकर डट सकता है। अहिंसा और अभय का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अहिंसा सिद्ध होने पर ही मनुष्य निर्वैर हो कर अभय हो सकता है तथा प्राणों की बाजी लगा सकता है। गाँधी जी कहते थे, "मारो मत, मर जाओ।" महावीर कहते थे—"माहणों।" ईसा कहते थे, "यदि कोई एक गाल पर चांटा मारे तो तुम दूसरा गाल उसके सामने कर दो।" ऐसा कौन कर सकता है? अहंकार-रहित एवं राग-द्वेषरहित व्यक्ति जो अहिंसा के बल को पहिचानता है,

जिसका अहिंसा की शक्ति में अचल विश्वास है। हिंसा का मूल राग-द्वेष है। अहिंसा में प्रतिशोध नहीं होता है तथा वैरभाव नहीं होता है। अहिंसा मन को निर्मल और पावन कर देती है। अहिंसा की साधना सफल होने पर साधक के समीपस्थ प्राणियों में वैरभाव नहीं रहता। सिंह और गौ एक साथ ही विचरण करते हैं। वैर-भाव एवं हिंसा के छूटने पर मन से भय छूट जाता है। वैर के स्थान पर प्रेम के आने पर अभयभाव का स्वतः उदय होता है। वैर-भाव-जनित हिंसक व्यक्ति अचेतन मन में प्रतिशोध से भयभीत रहता है। अहिंसक स्वयं अभय रह कर दूसरों को भी अभय कर देता है। सर्प भी उसके प्रभाव क्षेत्र में आने पर निर्विष हो जाता है और दुष्ट में सात्विकता जाग जाती है। अहिंसक सन्त अपने आत्मबल से दूसरों का कष्ट निवारण कर देने में एवं मानसिक क्लेशों का शमन करने में समर्थ होता है। उत्तम प्रशासक राग-द्वेष रहित होकर अपराधी को सद्भावनापूर्वक उचित दण्ड देता है, किन्तु अहिंसक सन्त तो दूसरों को दण्ड ही नहीं देता है, बल्कि अपनी आत्मीयता एवं प्रेममयता से हृदय परिवर्तन कर देता है, दूसरों में प्रसुप्त मानवता को जगा देता है। पूर्ण अहिंसक अत्याचार के प्रतिरोध में मारने की अपेक्षा मरना पसन्द करता है, किन्तु वह प्रतिरोध अवश्य करता है तथा उसका प्रतिरोध अहिंसात्मक होता है।

प्रेम करना मानव का सहज स्वभाव है। घृणा एवं हिंसा करना मानव प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। मानव के समस्त विकास का मूलाधार प्रेम है। हिंसा (घृणा) विष है, अहिंसा (प्रेम) अमृत है। वास्तव में प्रेम स्वाभाविक है, घृणा प्रतिक्रिया है।

अहिंसा के साथ सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जुड़े हुए हैं। ये 'पंच व्रत' हैं जिनका पालन करने से व्यक्ति एवं समाज के जीवन में सच्ची समृद्धि एवं शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। प्रलोभनग्रस्त व्यक्ति धनसंग्रह के मिथ्या साधनों पर ऐसे ही ध्यान देता है, जैसे पर्वत शिखर स्थित होकर भी गृद्ध हरियाली को न देख कर मांस पर दृष्टि जमा लेता है। अपरिग्रही भौतिक हानि-लाभ की परवाह नहीं करता है तथा भ्रष्ट मार्ग को कदापि नहीं अपनाता है। अहिंसाव्रत के सिद्ध होने पर शेष चार व्रत भी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। अहिंसक सत्य-निष्ठ होता है और प्राणिमात्र के प्रति मंगलभावना से संप्रेरित होकर आचरण करता है। धनलिप्साग्रस्त व्यक्ति अपरिग्रही नहीं हो सकता है, न वह दान-धर्म का सम्यक् आचरण कर सकता है। दम्भी व्यक्ति के द्वारा दान देना प्रदर्शन के सदृश होता है। अपरिग्रह के अभ्यास के लिए इच्छाओं पर अंकुश होना आवश्यक होता है। इच्छाओं (काम) का शमन होने पर अपरिग्रह साध्य हो जाता है। अहिंसा-वृत्ति अपनाने पर मनुष्य जीवन के किसी क्षेत्र में किसी पर अन्याय नहीं करता है, न शोषण ही। अहिंसाधर्म मानव का प्रकृत धर्म है। मानव का कल्याण अहिंसाधर्म में निहित है।

जिसके मन में जीवमात्र के लिये प्रेम एवं मैत्रीभाव छलछलाते हैं तथा सब के प्रति समानता का भाव है, जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जो देहाभिमान से मुक्त है, जो दूसरों पर शासन नहीं करता तथा अपने ऊपर पूर्ण शासन करता है, जो स्वयं निरीह है, जो धन-सत्ता-यश के प्रलोभन एवं राग-द्वेष से मुक्त है और सब के कल्याण में रत है, जो करुणा, दया और क्षमा से परिपूर्ण है, जो पर-निन्दा और स्वकीर्तिगान में रुचि नहीं लेता, जो सर्वत्र आत्मा का दर्शन करता है, उसके सभी शुद्ध संकल्प पूर्ण होते हैं। ऐसा व्यक्ति शक्ति का अमित भण्डार होता है तथा रसमयता का स्रोत बन कर विश्व को सुख-शान्ति से आप्लावित कर देता है। मानव को यह सीखना ही होगा कि अहिंसा सद्गुणों का मूलाधार है तथा वह उसके अस्तित्व, सुख एवं शान्ति के लिए नितान्त आवश्यक है।

## ५

# क्षमा

प्रेम के अनेक रूप हैं, अनेक पर्याय हैं—करुणा, दया, वात्सल्य, स्नेह, सहानुभूति, सेवा, परोपकार, त्याग, वलिदान इत्यादि। किन्तु, क्षमा प्रेम का चरमविंदु है, मानवीय गुणों का चरमोत्कर्ष है। प्रेम का पूर्णत्व क्षमा में है। क्षमा आत्मा का प्रकाश है।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि क्षमा स्वयं भगवान् का एक रूप है। ईश्वर क्षमा-सिन्धु है। विविध धर्मों तथा महान् सन्तों ने क्षमा की महिमा का गान किया है। ईसा कहते हैं—तुम अपने भाइयों को क्षमा करो, ईश्वर तुम्हें क्षमा करेगा। जब ईसा को फांसी दी गई, ईसा ने प्रार्थना की—हे प्रभो, इन्हें क्षमा करो क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं? स्वामी दयानन्द ने अपने विष देकर मारने वाले को क्षमा कर दिया तथा उसकी प्राण-रक्षा के लिये धन देकर उसे शीघ्रता से दूर भेज दिया। अनेक महापुरुषों ने अपने जीवन में क्षमा के उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

क्षमा से मन की आकुलता नष्ट होती है तथा उसमें स्थिरता आती है। क्षमा मन को निर्मल करती है और उसमें सात्विकता का संचार करती है। जो मनुष्य दूसरों को क्षमा नहीं कर सकता, वह अपने को भी क्षमा नहीं कर सकता तथा वह अपराध भावना से ग्रस्त रहकर सदैव आवद्ध एवं कुण्ठित रहता है।

कोप का अवसर समुपस्थित होने पर भी कोप न करना और क्षमाभाव रखना क्षमा की पराकाष्ठा है—

**बाह्ये आध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।**
**न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥**

अर्थात् जो मनुष्य व्यावहारिक कार्यों में अथवा अपनी आध्यात्मिक साधना में कष्ट के सव कारण उपस्थित होने पर भी न कोप करता है, न किसी को हानि पहुँचाता है, उसकी क्षमा ही सच्ची क्षमा है, वही उत्तम क्षमा है।

उत्तम क्षमा की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक मूर्धन्य जैनाचार्य कहते हैं कि यदि आक्रोशमय वचन सुनकर भी पवित्र भावों का ही आविर्भाव होता है तथा चित्त को आत्मा के गुणों में समाहित किया जाता है, वह उत्तम क्षमा होती है। जैन मत के अनुसार धर्म के दश लक्षणों का प्रारम्भ उत्तम क्षमा से होता है और लाक्षणिक पर्व का समापन अथवा पूर्णत्व भी क्षमा-पर्व द्वारा होता है। वास्तव में अहिंसाधर्म का आदि और अन्त क्षमा के धारण में ही निहित है।

क्षमा के संदर्भ में तीर्थंकर महावीर कहते हैं—

**खम्माणि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।**
**मैत्ती में सव्वभूतेषु वैरं मज्भं न केनवि ॥**

अर्थात् मैं सव जीवों को क्षमा कर दूं तथा सव जीव मुझे क्षमा कर दें और सव प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव हो, किसी से मेरा वैर न हो। दूसरे से क्षमायाचना करने से पूर्व उसके प्रति घृणा से विमुक्त होना, उसे क्षमा करके अपना मन निर्मल करना, आवश्यक है, अन्यथा हमारी क्षमायाचना औपचारिक, अयथार्थ एवं कष्टपूर्ण ही रहेगी। हम दूसरों को क्षमा करके अर्थात् अपना मन निर्मल करके ही क्षमा मांगने के अधिकारी हैं। कठोर व्यक्ति क्षमा मांगने तथा क्षमा देने में संकोच करता है। उदार व्यक्ति सहर्ष क्षमा का आदान-प्रदान करता है। 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।' समस्त दिशाएं, सभी मनुष्य, मेरे मित्र हों। क्षमा भाव तथा मैत्री भाव का परस्पर सम्बन्ध है, दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

क्षमा के अभाव में मनुष्य का मन व्याकुल रहता है, उसकी निद्रा विलुप्त हो जाती है तथा उसे शय्या पर शूल चुभते हुए प्रतीत होते हैं। अहंकार मनुष्य को क्षमा से दूर हटाकर उसे कठोर बना देता है तथा उसके मस्तिष्क में दूषित संस्कार उत्पन्न कर देता है जो उसके शरीर और मन को दुर्बल एवं जर्जर करते रहते हैं। क्षमा के अभाव में उत्पन्न कुण्ठाएँ मनुष्य में अनेक स्नायविक एवं शारीरिक रोगों को जन्म देती हैं। अन्ततोगत्वा क्षमारहित मन अपराधी तथा भीरु हो जाता है तथा मनुष्य की उन्नति में बाधक हो जाता है। क्षमा करना मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य ही नहीं अपितु उसका अपना स्वार्थ भी है। सुखमय जीवन बिताने के लिये, उन्नति पथ पर आगे बढ़ने के लिये क्षमा धारण करना आवश्यक है। क्षमा हमें शारीरिक स्तर पर उच्च रक्तचाप आदि रोगों से रक्षा करती है, मानसिक स्तर पर तनाव, व्याकुलता आदि अशांति के लक्षणों से मुक्त करती है और आध्यात्मिक स्तर पर आत्मा का परिष्कार कर देती है। क्षमा मनुष्य के मन को कुण्ठामुक्त एवं निर्मल कर देती है तथा उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर देती है।

महापुरुष मान-सम्मान एवं राग-द्वेष से ऊपर उठकर व्यक्तिगत जीवन में सहनशीलता एवं क्षमाशीलता को अपना लेते हैं तथा अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं। क्षमाशील मनुष्य सहनशील हो जाता है। क्षमा सहिष्णुता की जननी है। प्रतिशोध की भावना प्रज्ज्वलित अग्नि की भांति मनुष्य को विनष्ट कर देती है।

प्रतिशोध-भावना से प्रेरित होकर प्रत्याक्रमण करना पशुता है। प्रतिशोध एवं ईर्ष्या से मुक्त होकर ही क्षमा करना सम्भव होता है। विवेक का सार क्षमा ही है। प्रतिशोध घृणामय प्रतिक्रियाओं की अनन्त श्रृंखलाओं को जन्म देकर मनुष्य को भटका देता है। क्षमा महान् होती है। वैर से वैर का शमन नहीं होता। क्षमा भाव से वैर निर्मूल हो सकता है। क्षमा से ही भटके हुए मानवों के अन्तस्तल में प्रकाश जगाकर उन्हें सुधारा जा सकता है। जलधारा कठोर पाषाणखण्ड को भी सरलता से तोड़ देती है। अपार क्रोध को अपार क्षमा से ही शांत किया जा सकता है।

विवेकशील व्यक्ति विरोधी एव शत्रु का भी निरादर नहीं करता है तथा उसके प्रति अपने मन में आदर रखता है। 'जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव येषां प्रसादात् सुविचक्षणोऽहम्।' मेरे विरोधी चिरायु हों क्योंकि वे मुझे सजग करते हैं। कबीर कहते थे—

**"निंदक नियरे राखिए आंगन कुटि छवाय।**
**बिन साबन पानी बिना निर्मल करत सुभाय॥"**

प्रशंसा विष है, निन्दा अमृत है। विवेकशील पुरुष प्रशंसा के प्रलोभन एवं प्रभाव से बचकर निन्दा का स्वागत करता है। कभी-कभी अपमान होना भी हमारे अहंकारशमन के लिये औषधिवत् लाभकारी सिद्ध होता है। मिथ्या मान का मर्दन होना सात्विकता के उदय एवं विकास के लिये आवश्यक होता है। विरोध एवं शत्रुता होते हुए भी निर्वैर होकर कर्त्तव्य करते रहना महानता का द्योतक है। ऐसा व्यक्ति सुयश को प्राप्त कर लेता है।

किसी को वचन से क्षमा करना तो सरल है किन्तु उसे मन से भी क्षमा कर देना, अपमान एवं हानि को भूल जाना, कठिन है। क्षमा केवल बहिरंग नहीं, अंतरंग भी होनी चाहिए। क्षमा के अंतरंग होने पर ही अपमान आदि को भूलना सम्भव है। क्षमा का सम्बन्ध अन्तःकरण से होता है। वास्तव में किसी अपमानजनक घटना को भूलना न सम्भव है, न उचित ही। 'क्षमा करो और भूलो' का अर्थ है—क्षमा करो और कटुता को भूल जाओ। हम घटना को नहीं भूल सकते हैं, उसे मन में कुछ समय के लिये बरबस दबा सकते हैं, किन्तु कटु घटना को मन में दबाना भयंकर होता है। अनेक बार हम अपमान को भूल जाने के प्रयत्न में उसे स्मृति के किसी छिपे कोने में दबा देते हैं तथा उसका स्मरण मात्र हमें सहसा उद्वेलित कर देता है और हमारे शरीर में क्षोभजन्य प्रकम्प उत्पन्न कर देता है। घटना को बरबस विस्मृत करना अथवा स्मृति में दबाकर छिपा देना मस्तिष्क के लिये हानिकारक होता है, मस्तिष्क को दुर्बल बना देता है, मानसिक स्वास्थ्य एवं सन्तुलन को हानि पहुँचा देता है और विस्फोटक सिद्ध हो सकता है। अतएव घटना को बरबस भूलने के बजाय उसकी कटुता को क्षमाभाव से धो देना उचित होता है। भूलने का सच्चा अर्थ है स्मृति की कटुता को धोना। हम अपने मन को यह कहकर समझा सकते हैं कि हमारे अपमानकर्त्ता अपनी नासमझी के कारण दया के पात्र हैं, क्षमा के पात्र हैं तथा

विरोध में भड़कने अथवा घबराने के बजाय हमें जागना चाहिये। हम व्यापक क्षमा धारण करके मन को उदार एवं निर्मल कर सकते हैं। विगत जीवन में हमने जो भी अपमान एवं हानि का दुःख सहन किया है, उसे स्मृतिपटल पर लाकर, क्षमाभाव से उनकी कटुता को धोना मानो मन के व्रणों को धोकर मन को स्वस्थ एवं सुखी करना है। बौद्ध मत में ध्यान की जेन पद्धति से क्षमा द्वारा मन का निर्मलीकरण साधना का महत्वपूर्ण अंग है। क्षमा उत्तम तप है।

आर्त्त एवं दुःखी मनुष्य क्षमा के विशेपाधिकारी होते हैं। 'आरत के चित रहइ न चेतू।' रोगी अथवा दुःखी के प्रति हमें विशेप सहनशील एवं क्षमाशील होना चाहिये। असमर्थ एवं दुर्बल व्यक्ति के दोप की क्षमा का विशेष महत्व होता हैं।

क्षमा व्यक्ति के जीवन में निर्मलता का संचार करके उसे स्वस्थ एवं संतुलित, शांत एवं सुखी वना देती है तथा समाज में सुख की अभिवृद्धि करती है। यदि मनुष्य क्षमा धारण करलें तो घरों में स्वर्ग का दर्शन हो सकेगा, संस्थाओं में उन्नति होगी और न्यायालयों में भीड़ कम होगी। हिंसा एवं स्वार्थ सम्बन्धों को तोड़ते हैं, क्षमा सम्बन्धों को जोड़ती है, उन्हें मधुर वना देती है। क्षमा के माधुर्य का अनुभव अन्तः-करण में होता है। क्षमा मानव की समस्त सद्वृत्तियों के मूल में स्थित है, मधुर व्यक्तित्व का मूलाधार है। क्षमा मानव-समाज में पशु-जगत् के मत्स्य न्याय एवं प्रतिशोधभाव को लागू नहीं होने देती। क्षमा अहिंसा का प्राण है। क्षमा 'जीओ और जीने दो' का मूल मंत्र है। क्षमा मनुष्य के मनोवल एवं आत्मवल को वढ़ाकर जीवन को महोच्च एवं उदात्त वना देती है। क्षमा के द्वारा व्यक्तित्व की दुर्नम्यता दूर होती है, सुनम्यता का आविर्भाव होता है, क्षुब्धता के स्थान पर माधुर्य का समा-वेश होता है। क्षमा अहंभाव को उदात्त वना देती है। क्षमा जीवन को सरस एवं परिष्कृत वना देती है। क्षमा विनयशील व्यक्ति का आभूषण ही नहीं, सात्विक शस्त्र भी होता है। क्षमाखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः। जिसके हाथ में क्षमा है, दुर्जन भी उसकी हानि नहीं कर सकता। तृणहीन भूमि पर अग्नि क्या करेगी? वेद व्यास कहते हैं—क्षमाशील व्यक्ति को जीवन काल में सम्मान और अन्त में शुभ गति प्राप्त होती है। क्षमावतामयंलोकः परश्चैव क्षमावताम्। इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम्। वेदव्यास यह भी कहते हैं कि क्षमा से ही पूज्यता एवं परमेश्वर पद प्राप्त होते हैं, क्षमा से ब्राह्मी श्री चमक उठती है तथा भगवान् भी क्षमाशील जन पर तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं—

वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हतां गताः,
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम्।
क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा,
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः॥

क्षमाशीलता अभ्यास एवं साधना द्वारा दृढ़ होती है। क्षमारहित एवं कठोर व्यक्ति अपने हृदय में अपमान की स्मृति को पत्थर की लकीर की भांति स्थायी बना लेता है किन्तु क्षमाशील व्यक्ति के मन में अपमान की कटुता जल की रेखा की भाँति उत्कीर्ण नहीं होती। कबीर कहते हैं—सोना सज्जन साधु जन टूटि जुरैं सौ बार। दुर्जन कुँभ कुम्हार कै एकौ धका दरार। दुष्ट जन का हृदय पाषाणतुल्य कठोर तथा सज्जन का हृदय जल के समान कोमल होता है। क्षमा वीर पुरुष का शस्त्र है। वास्तव में क्षमा आत्मविजय प्राप्त करने पर अर्जित होती है। क्षमा प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व का सहज गुण होता है, आत्मविजयी की अमूल्य निधि होती है। क्षमाशील व्यक्ति कटुता का उत्तर मधुरता से देता है। यदि आवश्यकता होने पर वह किसी को दण्ड देता है तो भी व्यक्तिगत क्रोध से उत्तेजित न होकर, कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर तथा समाज व्यवस्था के हित में ही दण्ड देता है तथा उचित अवसर आने पर क्षमादान कर देता है।

क्रोध आने पर क्षमा विलुप्त हो जाती है। क्रोध विवेक का हरण करता है तथा मनुष्य को सत्य एवं न्याय से हटा देता है। क्रोध में मनुष्य को ध्यान नहीं रहता है कि क्या कहना या करना उचित है। वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् (वाल्मीकि)। क्रोध शक्ति एवं पुण्य को नष्ट कर देता है जैसे ज्वर चिरसंचित बल को। हरत्येकदिनेनैव ज्वरं षाण्मासिकं बलम्। क्रोधेन तु क्षणेनैव कोटिपूर्वार्जितं तपः॥ मनुष्य जो कुछ तप, संयम करता है, दान करता है, उसे क्रोध फूंक देता है। तपते यतते चैव यच्चदानं प्रयच्छति। क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्। (वामन पुराण)। क्रोध बड़ी कठिनाई से प्राप्त यश और तप को सर्वथा नष्ट कर देता है। संचितस्यापि महतो वत्स क्लेशेन मानवैः। यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः (विष्णु पुराण)। क्रोध नाश करने वाला ऐसा शत्रु है जो मित्र प्रतीत होता है किन्तु सर्वथा पतनकारक है। क्रोधः पापहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः। क्रोधोह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्व क्रोधोऽपकर्षति (वाल्मीकि)। क्रोध सभी कार्यों की सिद्धि में प्रथम विघ्न है। उत्तापकत्वंहि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः। क्रोध करना मूर्ख का लक्षण है, ज्ञानी का नहीं। मूढ़ानामेव भवति क्रोधो ज्ञानवतां कुतः (विष्णु पुराण)। क्रोध अज्ञान से उत्पन्न होता है तथा अहंकार से बढ़ता है। अज्ञान प्रभवोमन्युरहंमानोपबृंहितः (भागवत्)। क्रोध पर विजय पाना सचमुच कठिन है। क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुः। क्षमाशील स्वभाव होने पर क्रोध का उदय नहीं होता है। क्षमा का अभ्यास क्रोध पर विजय प्राप्त करने का उत्तम उपाय है।

क्षमा दुर्बलता का पर्याय नहीं है, सबलता की सूचक होती है। भूल हो जाने पर हमें साहस बटोर कर अपराध स्वीकृति ही नहीं बल्कि क्षमा याचना भी करनी चाहिये। भूल करना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। हम सभी किसी न किसी दिशा में तथा किसी न किसी मात्रा में भूल अवश्य करते हैं। किसी को पापी कहकर घृणा

करना स्वयं एक भयंकर भूल है, पाप है। गांधी जी कहते थे कि—पापी से नहीं पाप से घृणा करनी चाहिये। हम मिथ्या अहंकार के कारण दूसरों की छोटी-छोटी भूलों को बड़ा बनाकर घृणा का वातावरण बना देते हैं और लड़ने लगते हैं। भूल होने पर आत्म-सुधार के लिये अपराधस्वीकृतिपूर्वक क्षमा याचना करना प्रथम पग है। क्षमा मांगने और देने के लिये नैतिक साहस की आवश्यकता होती है।

क्षमा का आदान-प्रदान प्रेम से प्रेरित होकर ही होना चाहिये। भय से प्रेरित होकर क्षमा मांगना या क्षमा देना मिथ्याचार है। क्षमा याचना अहंकार को निर्मूल कर देती है तथा मन को निर्मल कर देती है। क्षमावान् होने का केवल यही दोष है कि प्रायः क्षमाशील व्यक्ति को दुर्बल कह दिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई दोष नहीं है।

**एकोः क्षमावतो दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।**
**यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥**

वास्तव में सबल एवं निर्भय व्यक्ति ही सच्ची क्षमा कर सकता है। क्षमा अशक्तों के लिये आवश्यक गुण किन्तु समर्थजन के लिये भूषण होती है। क्षमा सशक्त वीर की शोभा होती है। क्षमा गुणो अशक्तानां, शक्तानां भूषणं क्षमा (विदुर)। पराभूत करने का साहस होने पर भी क्षमा करना परम शौर्य का परिचायक है। शूर व्यक्ति क्रूर नहीं होता तथा क्षमा उसके स्वभाव का अंग होती है। वह अवसर पाते ही सहज भाव से क्षमा कर देता है। सम्पूर्ण संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर मानवमात्र का आदर करने वाला, जीवमात्र से प्रेम करने वाला, व्यक्ति ही सम्यक् प्रकार से क्षमा धारण कर सकता है। लाभ-हानि, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर समत्व भाव में संस्थित होने पर क्षमाभाव सहज हो जाता है। अतएव क्षमा मानव-जीवन का परमोज्ज्वज रत्न है।

महाभारत के आदि पर्व में क्षमा पर बहुत बल दिया गया है। मत्स्यपुराण में ययाति का देवयानी के प्रति क्षमा का उपदेश अत्यन्त मार्मिक है। श्रीकृष्ण क्रोध-मूर्ति दुर्वासा से कहते हैं कि वास्तव में क्षमा ही धर्म, क्षमा ही सत्य तथा क्षमा ही दान तथा क्षमा ही यश तथा स्वर्ग का सोपान है। क्षमा धर्मः क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा यशः। क्षमा स्वर्गस्य सोपानमिति वेदविदो विदुः (हरिवंश पुराण)। महर्षि वशिष्ठ ने अपने कटु विरोधी विश्वामित्र को क्षमादान देकर गौरव प्राप्त किया। भगवान् विष्णु ने वक्षःस्थल पर भृगु ऋषि का पदप्रहार सहर्ष सहन किया तथा उन से क्षमा मांग कर क्षमाशीलता का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया। नीति के अनुसार मनुष्य का प्रथम आभूषण रूप है, रूप का आभूषण गुण है, गुण का आभूषण ज्ञान है तथा ज्ञान का आभूषण क्षमा है। नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः। गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा। क्षमा दैवी गुण है। भगवती दुर्गा का एक प्रख्यात नाम 'क्षमा' भी है।

दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तुते।

यदि मनुष्यों में पृथ्वी के सदृश क्षमाशील उत्तम जन न हों तो झगड़े होने पर परस्पर संधि नहीं हो सकती है क्योंकि क्रोध अनेक झगड़े कराता ही रहता है। यदि न स्युर्मानुषेसु क्षमिणः पृथिवीसमाः। न स्यात् संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥
(वेद व्यास)

श्रीकृष्ण आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उत्तम पुरुष द्वेषभावरहित, सबका मित्र, दयालु, ममत्व रहित, अहंकाररहित, सुख-दुःख में सम तथा क्षमावान् होता है।

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ गीता १२।१३॥**

यदि राष्ट्र परस्पर वैर छोड़ कर क्षमा का मार्ग ग्रहण कर लें तो निश्चय ही सीमाओं पर सेनाओं के जमाव न हों तथा विश्वशान्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाये। ऋषिगण, ईसा, बुद्ध, महावीर और गांधी ने विश्व को क्षमा द्वारा मानव प्रतिष्ठा की संरक्षा का संदेश दिया था जिसे हम अनसुना कर रहे हैं। हृदय की विशालता, सहज उदारता, सहिष्णुता एवं क्षमा ही धरती को स्वर्ग बना सकते हैं।

---

६

# दिव्य महापुरुष

मैं कौन हूँ—यह एक अत्यन्त गूढ़ प्रश्न है। आत्म-परिचय देते हुए, उत्तर में प्रायः हम अपने नाम और रूप का ज्ञापन कर देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष नाम तथा रूप होता है। किन्तु, वास्तव में, मैं कौन हूँ ? नाम और रूप तो मात्र देह की विशेषता हैं। देह के नाते ही अनेक व्यक्तियों से मेरा सम्बन्ध है और अनेक वस्तुओं पर मेरा अधिकार है। यह मेरी वहिर्दृष्टि है। अन्तर्मुखी होकर, भीतर प्रवेश करने पर, आत्मचिन्तन द्वारा इस शाश्वत प्रश्न का शाश्वत उत्तर उपलब्ध हो सकता है। संसार के अनेक दार्शनिकों एव ऋषियों ने इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए अनवरत साधना की है। गौतम बुद्ध ने राज्य-वैभव को ठुकरा कर आत्म-साक्षात्कार के लिये घनघोर तपस्या की और आत्मज्ञान होने पर बद्ध जीवों को मुक्त होने का उपदेश सहज भाव से किया। आत्म-विश्लेषण एवं आत्म-शुद्धि द्वारा आत्म-दर्शन की साधना को बौद्ध विपश्यना (भीतर गहरे स्तरों पर काया, वेदना, चित्त और धर्म आदि को देखना) कहते हैं। सांसारिक राग-द्वेष से बद्ध मनुष्य उस आत्मानुभूति की कल्पना नहीं कर सकता है। बाह्य विषयों के प्रति तटस्थ दृष्टि होने पर आत्म-ज्ञान होना सम्भव होता है। हमने जीवन में अनेक व्यक्तियों एवं वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष द्वारा अपने मन पर संस्कार डाले हैं तथा घृणा, मोह आदि का संवर्द्धन किया है। इन संस्कारों की रागमयता को धोकर भीतर अपने को खोजना एक तप है।

योगीजन ने आत्मानुभूति करने के लिये विविध मार्गों को अपनाया है। भौतिक जगत् से भावजगत् में अथवा अपने स्थूल अस्तित्व से सूक्ष्म अस्तित्व में प्रविष्ट होने के लिये श्वासोच्छ्वास-प्रेक्षण (श्वसन-प्रेक्षा) एक प्रमुख माध्यम है जो प्रायः सभी ध्यान पद्धतियों में किसी न किसी स्तर पर मान्य है। इस के साथ ही सम्बद्ध एक अन्य माध्यम—देहप्रेक्षण है जिसके द्वारा देह की आन्तरिक क्रियाओं के मर्म का बोध हो जाता है। तटस्थ प्रेक्षण (प्रेक्षा) ध्यान की प्रक्रिया को सूक्ष्म स्तर तक पहुँचा देता है तथा मनुष्य में चमत्कारिक शक्तियों का उदय कर देता है। प्रेक्षा-

ध्यान द्वारा शरीर के मर्म का बोध करना शरीर-विच्छेदन के बिना ही सम्भव है। विपश्यना साधना और प्रेक्षा-ध्यान में बहुत साम्य है। प्रधानतः विपश्यना बौद्ध तथा प्रेक्षा जैन पद्धति है।

मनुष्य ध्यान प्रक्रिया द्वारा रागात्मकता से ऊपर उठकर तथा समत्व में स्थित होकर आत्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार अथवा स्वानुभूति कर सकता है। रागात्मकता (हमारे मन में कुछ पदार्थों एवं व्यक्तियों के प्रति अनुकूलता या प्रतिकूलता का भाव) के कारण ही हमें कुछ पदार्थ तथा घटनाएं प्रिय अथवा अप्रिय, सुखद अथवा दुःखद प्रतीत होते हैं। वास्तव में किसी पदार्थ अथवा घटना में सुख या दुःख निहित नहीं होता बल्कि रागात्मकता के कारण वह हमारे मन में ही उत्पन्न होता है। रागात्मकता की भिन्नता के कारण ही जो पदार्थ एक व्यक्ति को सुखद होता है, वह किसी अन्य को दुःखद होता है।

यद्यपि लोक में बुराई की अपेक्षा भलाई करना ही श्रेयस्कर है, साधक के लिये भलाई करना मात्र आनुषंगिक एवं सहज होता है तथा उसका प्रमुख उद्देश्य स्वदर्शन एवं स्वानुभूति होता है। प्रेक्षा-ध्यान (तटस्थ प्रेक्षण) अथवा विपश्यना आदि के अभ्यास के द्वारा मनुष्य रागमयता से ऊपर उठकर द्वन्द्वातीतता एवं वीतरागता को प्राप्त हो जाता है जो उसके लिये स्वानुभूति का द्वार खोल देती है।

देह के प्रति प्रगाढ़ रागमयता के कारण मनुष्य अपने को देह ही मानता है। श्वासप्रेक्षण एवं देहप्रेक्षण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि देह में संवेदना होती है किन्तु उसका बोध देह को नहीं होता, मुझे होता है। अतएव देह और मैं भिन्न हैं। देह में श्वासोच्छ्वास (श्वसन), हृदय स्पन्दन इत्यादि नानाविध क्रियाएं होती रहती हैं किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ। ध्यान द्वारा श्वासोच्छ्वास एवं देह की प्रेक्षा का अभ्यास करने से मनुष्य उन पर नियन्त्रण कर सकता है और इस प्रकार देह का स्वामी होकर अनेक चमत्कारिक सिद्धियां प्राप्त कर सकता है यद्यपि साधक के लिये वे नितान्त हेय एवं परित्याज्य हैं। यही गीतोक्त द्रष्टाभाव है जिसके संसिद्ध होने पर मनुष्य दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से मुक्त होकर स्वानुभूति के अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर लेता है। मैं कौन हूँ? मैं वह हूँ जिसके निकल जाने पर देह मात्र मिट्टी रह जाता है और साधना के द्वारा जिसके साक्षात्कार, संदर्शन एवं अनुभूति से मानव दिव्यत्व को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। मैं वह अजर-अमर आत्मतत्व हूँ जिसने इस देह का बचपन, यौवन और वार्धक्य देखा है, रोगादि देखे हैं तथा स्वयं सत् चित् आनन्द है। मैं वह हूँ जिसके प्रकाश में जड़ देह और बुद्धि सचेतन होकर कार्य करते हैं तथा जिसके वियुक्त होने पर "मृत्यु" हो जाती है।

कामना से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। कामना और राग का घनिष्ठ सम्बन्ध है; कामना और राग अन्योन्याश्रित हैं। कामना के प्रबल होने पर राग प्रगाढ़ हो जाता है तथा राग के प्रगाढ़ होने पर कामना उद्दीप्त हो जाती है। राग की निवृत्ति

के लिये कामना की निवृत्ति होना आवश्यक है। कामना पूर्ति से सन्तोष तथा अपूर्ति से कुण्ठा उत्पन्न होते हैं। किन्तु कामना की मानसिक पूर्ति एवं आत्यन्तिक निवृत्ति मात्र शारीरिक भोग से नहीं होती, विवेक से होती है। विवेकहीन भोग मनुष्य को भोगासक्त कर देता है तथा विवेकपूर्ण भोग मानसिक तृप्ति द्वारा निवृत्ति प्रदान करता है। कामना के बरबस दमन से मन की रागमयता धुलती नहीं है बल्कि कुण्ठा का रूप ले लेती है। विवेक द्वारा ही कामना का शमन एवं राग की निवृत्ति होना सम्भव है। उत्तम ज्ञानीजन भोग का पूर्ण परित्याग करके भी ज्ञानजन्य विवेक द्वारा कामना एवं राग से मुक्त हो जाते हैं। यथार्थ ज्ञान होने पर शारीरिक भोग के बिना ही मानसिक परितुष्टि एवं निवृत्ति हो जाती है। कामना एवं रागमयता से मुक्त होकर ही अर्थात् द्वन्द्वातीत, (रागातीत, सुखदुःखातीत इत्यादि) अवस्था एवं समता आने पर ही मनुष्य ध्यान द्वारा स्वानुभूति; (आत्म-साक्षात्कार, आत्म-संदर्शन) कर सकता है। वास्तव में कामजन्य राग ही भौतिक बन्धन का कारण है तथा निष्कामहोने पर तथा मन की रागमयता धुलने पर मनुष्य दिव्य हो जाता है और उसमें कल्पनातीत शक्तियाँ समुद्भूत हो जाती हैं। स्वानुभूतिसम्पन्न दिव्य व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है तथा उसके कर्म अन्तर्प्रेरणा के अनुसार होते रहते हैं। उसे अपने लिये बौद्धिक स्तर पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की विवेचना नहीं करनी पड़ती है, उसके भीतर अन्तर्ज्योति उसके जीवन पथ को आलोकित करती रहती है। आत्मा इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे होने के कारण स्वयं अपना दर्शन एवं अनुभूति करता है। आत्मानुभूति के आनन्द में, आत्म-प्रकाश के आलोक में, सहजभाव से कर्म करने वाला महामानव धन्य होता है।

आत्म-जिज्ञासा से संप्रेरित होकर राजकुमार महावीर ने तीस वर्ष की यौवनपूर्ण आयु में राजकीय भोगैश्वर्य के प्रलोभन का संवरण करके सन्यास ले लिया और आत्म-साक्षात्कार हेतु घोर तप किया। बुद्धि के बहिर्प्रक्षेपण को भीतर की ओर उलटकर जीवन के स्रोत की खोज करना परम साधना है तथा आत्म-साक्षात्कार होना परम उपलब्धि है। बहिर्जगत् में बुद्धिजन्य ज्ञान-विज्ञान के चमत्कार अत्यन्त प्रशंसनीय हैं किन्तु अपने अन्तर्जगत् के चमत्कार तो अद्भुत हैं। अन्तरिक्ष की अनन्तता की भांति अपने भीतर आत्मतत्व की अनन्तता है। यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे। जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह अपने भीतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। बाह्य स्थूल-जगत् से कहीं अधिक विलक्षण भीतर सूक्ष्म जगत् है।

वास्तव में कठिन साधना के परिणामस्वरूप मनुष्य को अपने भीतर ही आत्मतत्व की दिव्यानुभूति होती है, वह एक ऐसी उपलब्धि है जिसे प्राप्त करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। मादक पदार्थों (गांजा, एल० एस० डी०, मारिजुआना आदि) के सेवन से प्राप्त मदमत्त मानसिक अवस्था से उसकी तुलना करना अथवा उसे आत्म-प्रवंचना कहना अविवेक है। मादक पदार्थों का पतनकारक प्रभाव मनुष्य को दुर्बल एवं विकृत बनाकर उसे दयनीय स्थिति में ला देता है किन्तु आन्तरिक आत्मानुभूति

मनुष्य को सुदृढ़ एवं स्वस्थ बनाकर जीवन को उदात्त कर देती है तथा मनुष्य देह, इन्द्रियों और बुद्धि के धरातल से ऊपर उठ कर आत्मज्योति के प्रकाश में आनन्द प्राप्त करता है। दिव्य आनन्दानुभूति अनिर्वचनीय होती है तथा उसे पाकर मनुष्य परम तृप्त हो जाता है।

भगवान् महावीर नेकहा कि कर्मबन्धनमुक्त एवं रागमुक्त आत्मा ही परमात्मा है। राग के द्वारा व्यक्ति कर्म से बंधता है तथा रागरहित होकर कर्म से मुक्त हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के अभेद को उपनिषद् का महावाक्य अहं ब्रह्मास्मि भी उद्घोषित करता है। आत्म-तत्व की दिव्यानुभूति निश्चय ही सभी को समान होती है यद्यपि उसका दार्शनिक विवेचन भिन्न होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में साधना मार्ग भी गहन स्तर पर एक ही है यद्यपि उसका वर्णन भिन्न प्रतीत होता है। पंतजलि ऋषि द्वारा प्रणीत योगशास्त्र में वर्णित यम-नियम तथा बुद्ध के अष्टांगीण धर्म, महावीर के चतुरंग मार्ग एवं पंचव्रत आदि में तत्वतः अभेद हैं यद्यपि उनके प्रतिपादन में भेद है। अन्तरंग एवं बहिरंग पवित्रता मनुष्य को ईश्वरतत्व के समीप ला देती है। आधुनिक युग में भारत में कबीर, गुरुनानक, रामकृष्ण परमहंस, रमण, अरविन्द इत्यादि ने उसी एक तत्व की अनुभूति की जो सब के भीतर समान रूप से व्याप्त है। जो तत्व जड़ शरीर में चेतना का संचार करके उसे जीवन प्रदान करता है, वही दिव्य तत्व विश्व का धारण-पोषण करता है। आत्मतत्व को स्वीकार करने वाले भगवान् महावीर अनीश्वरवादी नहीं थे। यद्यपि उन्होंने आत्मतत्व की ही व्याख्या की है, उन्होंने ईश्वरतत्व का खण्डन भी नहीं किया। जल में लहरों के अस्तित्व को स्वीकार करने पर जल विस्तार (समुद्र) स्वयं सिद्ध हो जाता है। जैसे सभी वीचियों की समष्टि को समुद्र कहते हैं, ब्रह्मवादी आत्माओं की समष्टि को परमात्मा कहते है। वीचि समुद्र से समुद्भूत होकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं किन्तु यह भी सत्य है कि वीचि और समुद्र एक ही तत्व हैं, एक ही हैं। वास्तव में आत्मतत्व की दिव्यता सभी सन्तों का प्रतिपाद्य है।

निरन्तर दिव्यानुभूति का सौभाग्य प्राप्त करने वाला मानव देहभाव अथवा देहाध्यास से ऊपर उठकर, आत्म संस्थित होकर, निरन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) का अनुभव करता है। वह कहता है—'नाहं देहो न मे देहः केवलोऽहं सनातनः। मैं देह नहीं हूं, न देह मेरा है, मैं जड़ देह नहीं, चेतन्य तत्व हूं, सनातन हूं। देहभाव से ऊपर उठकर, आत्मभाव में संस्थित होकर,मनुष्य कामादि विकारों से मुक्त होकर मृत्यु पर जय प्राप्त कर लेता है। मन बुद्धि का अहंकार गृहीत अहंकार (Borrowed I) होता है, वास्तविक नहीं। मैं ब्रह्म हूँ—यह सच्ची अनुभूति है।

अपना स्वरूप विना जाने हुए परमात्मा को जानना सम्भव नहीं है। परमात्मा को जानने के लिये पहिले अपने आप को जानना चाहिये। अज्ञातस्वरूपपेण परमात्मा

न बुध्यते । आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ॥ (ज्ञानार्णव) । मैं कौन हूं ? ईशावास्य उपनिषद् का मंत्र इस काउत्तर है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यं प्राजापत्य व्यूह् रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । हे सृष्टि के पोषक सूर्य, प्रजापति के पुत्र, अपनी किरणों को हटा लो जिससे मैं तुम्हारा कल्याणस्वरूप देख सकूं क्योंकि रश्मि पुञ्ज में आदित्यम डलस्थ जो पुरुष (दिव्य तत्त्व) विद्यमान है, मैं वही हूँ ।

तैत्तिरीय उपनिषद् का मंत्र है—

**अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविण ँ सवर्चसमम् सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।**

मैं संसार वृक्ष का संप्रेरक हूं । मेरी कीर्ति उत्तुङ्ग गिरिशिखर के सदृश महान् है । मैं ऊर्ध्व, पवित्र हूं । मैं परब्रह्मस्वरूप, कारणवान् मैं ही हूं । मैं सूर्य के तुल्य विशुद्ध अमृतमय हूं । मैं दीप्तिवान् धन, श्रेष्ठ मेधा से युक्त, अनश्वर तथा अक्षय हूं । मैं अमृतसिक्त हूं । त्रिशंकु ने यह आत्मानुभूति होने पर सहज भाव से कहा । यह जीवनमुक्त अवस्था है । यही मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है । संत कबीर कहते थे— हम न मरैं, मरिहै संसारा ।

आत्मानुभूति होने पर मनुष्य को धर्म-ग्रन्थों की सीमाएं बांध नहीं सकतीं तथा उसके मन की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं । वह अहंकार, मोह, राग-द्वेष, घृणा, चिन्ता, भय, क्रोध आदि से मुक्त हो जाता है । महावीर की एक उपाधि निर्ग्रन्थ भी है । ग्रन्थिरहित (कोम्पलेक्स फ्री) होने पर मनुष्य सहजावस्था को प्राप्त हो जाता है । आत्म तत्व की दिव्यता का समावेश होने पर मनुष्य प्रेम, क्षमा, करुणा का समुद्र हो जाता है तथा उसका सम्पर्कमात्र ही दूसरों को निष्कलुष वना देता है । दिव्यत्व को प्राप्त व्यक्ति जीवमात्र में आत्मदर्शन करता है । वह समुद्र की भांति सहजशान्त रहता है ।

वास्तव में परमात्मा के अस्तित्व की अनुभूति, परात्परब्रह्म की सत्ता की अनुभूति तथा संसार के मिथ्यात्व की अनुभूति भीतर आत्मस्तर पर ही होती है । (कार्ल युग कहता है कि रहस्यमय दिव्यानुभूति एक सत्य है । ) आत्मतत्व ही सत् है, ब्रह्म सत्य है, संसार असत् है, मिथ्या है—ऐसी अनुभूति आत्मिक स्तर पर होती है यद्यपि इन्द्रिय स्तर पर अथवा भौतिक स्तर पर संसार सत् प्रतीत होता है । जीवन का पूर्ण दिव्यीकरण होने पर सिद्ध-पुरुष के लिये कोई कर्म करना शेष नहीं रहता है । वह कर्म को छोड़ता नहीं है, कर्म उससे छूट जाता है । उसके सभी संकल्प पूर्ण होते हैं । क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे । सिद्धपुरुष को साधारण मनुष्यों की भांति कर्म नहीं करने पड़ते हैं । उसके संकल्पमात्र से कर्मसिद्धि हो जाती है । उसके संकल्प अन्य व्यक्तियों के मन में प्रेरणा बन जाते हैं तथा वे कार्यसिद्धि का माध्यम हो जाते हैं । किन्तु साधकजन को, आत्मतत्व की दिव्यानुभूति की ओर

अग्रसर होते हुए, जीवन में लोक-व्यवहार का निर्वाह सुचारु रूप से अवश्य करना चाहिये। मनुष्य को निष्काम भाव से इस प्रकार कर्म करना चाहिये कि मन पर उस की छाप न छूटे, वह कर्मपाश में बद्ध न हो। आध्यात्मिक स्तर पर परमात्मा को सत् और जगत् को असत् मान कर ही, वैराग्यजन्य निष्कामभाव से, कर्म करना सम्भव है। कर्म करते समय कर्तव्यप्रेरित होकर पुरुषार्थ ऐसे करना चाहिये जैसे कि सब कुछ हमारे हाथ में है तथा फलप्राप्ति के समय ऐसे सन्तुष्ट हो जाना चाहिये जैसे कि सब कुछ ईश्वराधीन है।

मनुष्य के लिये आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों ही स्तरों पर जीवननिर्वाह करना नितान्त सम्भव है। आध्यात्मिक स्तर पर परमात्मा को सत् तथा भौतिक स्तर पर जगत् को असत् मान कर जीवनयापन करने के लिये कर्मकुशलता की आवश्यकता है। आत्मा के स्तर पर दिव्यानुभूति करने का प्रयत्न करते हुए भी शरीर के स्तर पर लोक व्यवहार करना अभीष्ट होता है क्योंकि मनुष्य देह और आत्मा का सम्मिश्रण है। अध्यात्म और लोकव्यवहार में सामंजस्य स्थापित कर लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। मनुष्य परमात्मा से जुड़ने पर कर्मकुशलता स्वयं सीख लेता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का एक अर्थ यह भी है कि निष्काम कर्मयोगी इस प्रकार कर्म करता है कि वह कर्म करने पर भी कर्मपाशबद्ध नहीं होता, उसके मन पर कर्म की छाप नहीं छूटती है। अभिनय-कुशल अभिनेता रंगमंच पर कृष्ण का अभिनय करते हुए प्रयत्नपूर्वक अभिनय से यह सिद्ध करता है कि वही कृष्ण है किन्तु वह चक्र चलाते हुए सचमुच ही शिशुपाल का अभिनय करने वाले पात्र का वध नहीं कर देता है। उसे निरन्तर स्मरण रहता है कि रंगमंच में वास्तविकता की प्रतीति होते हुए भी मिथ्यात्व है और समस्त अभिनय लीलामात्र है। ज्ञानयोगी जानता है कि संसार प्रभु का लीलाधाम है। ज्ञानी जगत् के रंगमंच पर अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए अभिनय करके कृतकृत्य हो जाता है। जिस प्रकार अभिनेता मंच निर्देशक की आज्ञा का अनुसरण करने पर उत्तरदायित्व के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार योगी अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा का अनुपालन करके पाप-पुण्य (एवं दुःख-सुख) के बन्धन से विमुक्त हो जाता है। ज्ञानी को भी दुःखद परिस्थिति घेरती है, उसके साथ भी दुःखद घटनाएं होती हैं किन्तु उसे दुःख नहीं होता है। कर्म-समर्पण करने पर अहंकाररहित मनुष्य कर्मफल से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा में अविचल विश्वास होने पर तथा जीवन के दिव्य (आध्यात्मिक) होने पर, मनुष्य राग-द्वेष एवं वैर भाव से ऊपर उठकर, अहिंसा, प्रेम, करुणा एवं क्षमा का मन्दिर हो जाता है तथा सद्‌व्यवहार करना उसका सहज गुण हो जाता है। अहिंसा हिंसा को पराभूत कर लेती है, क्षमा क्रोध को जीत लेती है, प्रेम घृणा पर विजय पा लेता है। दिव्यतत्व से जुड़कर मनुष्य सुख और शान्ति का धाम बन जाता है तथा सर्वत्र सुख और शान्ति का प्रसार करता है। ऐसा प्रभुमय जीवन धन्य होता है।

**यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति**
**यत्प्राप्य न किंचिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति**
**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति । (नारदभक्ति सूत्र)**

परमात्मा को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है, न कुछ इच्छा करता है, न चिन्ता करता है, न द्वेष करता है, न अनुरक्त होता है, न (भौतिक) उत्साह करता है। उसे जानकर मनुष्य आत्माराम और प्रेममत्त हो जाता है।

**एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति (श्रुति)** एक ब्रह्म के जानने पर सब ज्ञात हो जाता है।

---

७

# विपद के सखा

मनुष्य के जीवन में अकस्मात् ऐसे भीपण संकट आ जाते हैं जिनकी उसे स्वप्न में भी कल्पना नहीं होती है तथा वह चकित एवं हतबुद्धि हो जाता है। मूल्यवान् धन-सम्पत्ति का अपहरण, मिथ्या लाञ्छन, आकस्मिक दुर्घटना, परमप्रिय व्यक्ति का अप्रत्याशित दुःखद मरण इत्यादि संकट के विविध रूप है। कदाचित् इन सब में प्रियजन-वियोग सर्वाधिक दुःखदायक है। माता-पिता के सामने उनके प्राणोपम पुत्र, पुत्री का निधन अत्यन्त कारुणिक एवं हृदय-विदारक होता है। जब दीर्घकाल तक विहित परिश्रमपूर्ण सेवा करने के उपरान्त पुष्पित एवं पल्लवित, हरा-भरा, तरुण, विशाल तथा सुन्दर वृक्ष आंधी के भयानक झोंके से मूलोच्छेद होने पर माली के समक्ष ही धराशायी हो जाता है, वह असहायता एवं विवशता में हाथ मलता और रोता रह जाता है। इस दैवी वज्राघात को वह कैसे सहन करे ? ऐसी घोर विपत्ति में उसके कौन सहायक हो सकते हैं ?

महात्मा तुलसीदास कहते है कि ऐसे असमय के सखा मनुष्य के निकट ही उसकी सहायता करने के लिये तैयार खड़े रहते हैं किन्तु वह प्रमादवश उनका अपमान करके उन्हें वहिष्कृत एवं तिरस्कृत कर देता है। यदि वह उनका सहारा ले लेता है तो कुटुम्बीजन, मित्रगण तथा अन्य हितैपीगण की सहायता भी सार्थक सिद्ध हो जाती है।

तुलसी असमय के सखा धीरज धरम विवेक।
साहित साहस सत्यव्रत राम भरोसो एक॥ (दोहावली ४४७)

मनुष्य का प्रथम सखा उसका धैर्य ही है। अपने धैर्य के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु मनुष्य का संकट से उद्धार नहीं कर सकती है। 'स्वधैर्यादृते न कश्चिदभ्युद्धरति संकटात्।' धैर्य होने पर ही अन्य गुण भी मनुष्य की सहायता कर सकते हैं। धैर्य के अभाव में तीव्र वुद्धि और असीम वल भी निरर्थक हैं। धैर्य का अर्थ है शोकमग्न होने पर भी अपने मन को थामते हुए कोई जल्दवाजी का पग न

उठाना तथा अपने को संभाले रखना। धीर पुरुष विपत्ति को पार कर लेते हैं, दीनचित्त नहीं। 'धीरास्तरन्ति विपदं न हि दीनचित्ताः।' वास्तव में धीर पुरुष विपत्ति आने पर और अधिक दृढ़ हो जाते हैं—'निसर्गः स हि धीराणां यदापदि अधिकं दृढाः।' धीर पुरुष वे होते हैं जिनके मन में घबराहट, चिन्ता और व्यथा का अवसर होते हुए भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता—'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।' विपद में धैर्य और अभ्युदय में क्षमा होना महापुरुषों का स्वभाव होता है। 'विपदि धैर्यमभ्युदये क्षमा।' धीर पुरुष कितने भी कष्ट से पीड़ित हो, उसके धैर्यगुण को मिटाया नहीं जा सकता। अग्नि को नीचे झुकाने पर भी उसकी शिखाएं नीचे की ओर कदापि नहीं जाती, ऊपर को ही निरन्तर उठती रहती हैं—

**कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमाष्टुम्।**
**अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव॥**

सुमंत्र से यह सुनकर कि राम सीता और लक्ष्मण सहित, गंगा पार कर वन चले गये, राजा दशरथ विकल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और मरणासन्न हो गये। कौशल्या जी ने राजा से धैर्य धारण करने के लिये निवेदन करते हुए कहा—

**नाथ समुझि मन करिअ बिचारू, राम बियोग पयोधि अपारू॥**
**करनधार तुम्ह अवध जहाजू, चढेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥**
**धीरज धरिअ त पाइअ पारू, नाहित बूड़िहि सब परिवारू॥**
**जौं जिय धरिअ विनय पिय मोरी, राम लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥**

"हे नाथ, आप मन में समझ कर विचार करें कि श्रीराम का वियोग अपार सागर है, अयोध्या जहाज है और आप उसके कर्णधार हैं। सब प्रियजन (कुटुम्बी तथा प्रजाजन) ही यात्रियों का समाज है जो इस जहाज पर चढ़ा हुआ है। आप धैर्य धारण करें तो सब पार हो जायेंगे अन्यथा समस्त परिवार डूब जायेगा। हे प्रिय स्वामी, यदि मेरी विनय हृदय में धारण कर लें तो राम, लक्ष्मण और सीता पुनः आ मिलेंगे।" किन्तु दशरथ अधीर हो गये और उनका प्राणान्त होने से अव्यवस्था हो गई। संकट काल में धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि कदाचित धैर्य से उद्धार हो सकता है। 'धैर्यं न त्याज्यं विधुरेऽपि काले, धैर्यात्कदाचित् गतिमाप्नुयात्सः।'

संकट की विषम बेला में धर्म मनुष्य में कर्त्तव्यभावना को जगाकर कर्म करने की प्रेरणा देता है। कर्त्तव्यपालन में शिथिलता होना अधर्म है। धर्म मनुष्य को पुण्य कर्म करते रहने की प्रेरणा देता है। पूर्वकृत पुण्य के प्रताप से मनुष्य को अप्रत्याशित सहायता एवं गहन सान्त्वना मिलती है। पुण्य कर्म की स्मृति मनुष्य को सुख एवं संबल प्रदान करती है। पुण्यशील व्यक्ति का मन निर्मल हो जाता है तथा वह संकट में भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव करता रहता है। अपने धैर्य, धर्म,

तथा सब उससे घृणा करने लगते है। दुर्बल व्यक्ति चालाक लोगों की कुटिलता का शिकार बन जाता है और उसकी दुर्दशा हो जाती है। कायर व्यक्ति अपयश और निन्दा के भय से त्रस्त होकर दुष्टजन के षड्यंत्र में फंस जाता है जो उसके संकट को और भी अधिक भीषण बना देते हैं।

विवेक हमें अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाने के लिये, अपने वश में रहने के लिये, प्रेरित करता है किन्तु साहस के बिना विवेक पंगु हो जाता है। विवेक के साथ साहस होने पर ही हम आत्मविजय कर सकते हैं, संकट का सामना कर सकते हैं तथा दुष्टों का मुकाबला कर सकते हैं। सबल एवं साहसी व्यक्ति ही सुख का अधिग्रहण करने में सक्षम होता है। दुर्बल व्यक्ति को ही जीवित तथा मृतक भी डरा सकते है, सबल को नहीं। अनेक निर्मम लोग किसी का घर जलने पर हाथ तापने लगते हैं और अनर्गल प्रचार एवं अपवाद करके स्थिति को विषम बना देते हैं। उनसे निपटने के लिये भी साहस की आवश्यकता होती है। मनुष्य दृढ़ होकर ही कर्त्तव्य पालन कर सकता है। जो मनुष्य साहस एवं पराक्रम के अवसर पर विषाद करने लगता है, उसका तेज समाप्त हो जाता है तथा फिर उससे पुरुषार्थ नहीं होता। 'यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति।'

जीवन एक चुनौती है। साहसी व्यक्ति चुनौतियों को स्वीकार कर उनका उत्तर देने के लिये कर्मक्षेत्र में कूद जाता है। साहसी पुरुष दूसरों को भी जीने की राह दिखा देता है तथा लोग उसे अपना आदर्श एवं प्रेरणा-स्रोत मानकर महापुरुष की संज्ञा दे देते हैं। मनुष्य में असीम शक्ति तथा अनन्त सम्भावनाएं छिपी पड़ी रहती हैं जो संकट को ललकारने से प्रस्फुटित हो जाती है। कायर संकट को देखकर रो उठते हैं तथा साहसी वीर उसका डटकर सामना करने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। संकट साहसहीन व्यक्ति के लिये अभिशाप है, साहसी के लिये वरदान। उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि (विवेक), शक्ति और पराक्रम होने पर ही ईश्वर सहायता करता है। 'उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः। षडेते यत्र वर्तन्ते, तत्र देव सहायकः॥' देवता परिश्रमी के अतिरिक्त किसी अन्य की सहायता नहीं करते हैं।' न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋग्वेद)

शोक एवं भय के वातावरण से बाहर निकल आने के लिये साहस की आवश्यकता होती है। शोक एवं भय मनुष्य की शक्तियों को चाट जाते हैं और उसे निर्जीव बना देते हैं। शोकाकुल परिवार में सब सहमे हुए, पाषाण की भाँति चेतना-शून्य, भ्रमित एवं कुछ खोये हुए से, लुटे हुए से, हो जाते हैं। शोक रुचियों का शोषण कर लेता है तथा जीवन के रस को विषाक्त कर देता है। साहस करके ही शोक एवं भय की काली चादर को उतार कर फेंका जा सकता है। साहस के सहारे ही मनुष्य विषम परिस्थिति एवं संकट को पार कर सकता है। मनुष्य अपना उद्धार स्वयं ही कर सकता है तथा अपना सहारा छोड़ने पर दूसरे का सहारा भी निष्फल

हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—स्वयं ही अपने आप को दुःख, भय, चिन्ता, शोक, मोह से ऊपर उठाओ, अपने को हीन भावना और दुर्बलता से बचाओ। 'उद्धरेत् आत्मानं नात्मानमवसादयेत्।' संकट में साहसी कह देता है—'देने वाले से हमने मांगी थी खुशी, हौसला देखकर उसने गम दे दिया।'

अकल्पित भीषण दुर्घटना से उत्पन्न अपूरणीय क्षति को देखकर मनुष्य आश्चर्य-चकित, स्तब्ध एवं अवाक् हो जाता है तथा धीरे-धीरे शोक उसे घेर कर संज्ञाशून्य बना देता है। साहस को जगाकर ही मनुष्य शोकातुरता से मुक्त हो सकता है। साहस ही जीवन में पुनः रससंचार करने में समर्थ होता है। साहसी व्यक्ति संघर्ष के लिये उत्साहपूर्वक उठ खड़ा होता है तथा कुटिल जन द्वारा अकारण निन्दित होने पर भी हतोत्साहित एवं भयभीत नहीं होता। 'उत्साह ही वलवान् होता है तथा उत्साह से बढ़ कर अन्य कोई वल नहीं होता है। उत्साही व्यक्ति के लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं वलम्। सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् (वाल्मीकि)। साहस का सार उत्साह होता है। जीवन को चलाने के लिये पग-पग पर साहस चाहिये। साहसहीन व्यक्ति जीवित शव की भांति होता है जिसका सभी उपहास एवं अनादर करते हैं। साहस होने पर ही पुरुषार्थ एवं पराक्रम करना, उद्यम करना, संभव होता है।

संकट आने पर उसकी चुनौती को स्वीकार करके पुरुषार्थ करना चाहिये तथा सत्यव्रत लेने चाहियें। सत्संकल्प जगाकर ही मनुष्य शोक-मोह के सागर को पार कर सकता है। हमें स्वार्थ छोड़कर तथा उदार होकर दूसरों के लिये जीने का व्रत लेना चाहिये। दूसरों को न रुलाने और दूसरों के आँसू पोंछने का व्रत लेना चाहिये। शुभ कर्म के मूल में शुभ संकल्प होता है।

कभी कभी कोई क्षति होती ही चली जाती है तथा उसे कोई रोक नहीं पाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के पास उसे साहसपूर्वक स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प ही नहीं होता है। यह निर्विवाद है कि प्रत्येक मनुष्य जीवन में कुछ खोता है तथा कुछ कमाता है। हानि-लाभ, क्षति-उपलब्धि जीवन का अंग हैं। किसी क्षति की पूर्ति किसी अन्य उपलब्धि से नहीं होती है तथा उपलब्धि को किसी अन्य क्षति से विलुप्त भी नहीं किया जा सकता है। जीवन में क्षति और उपलब्धि दोनों का अपना-अपना स्थान है। विवेकशील व्यक्ति क्षति से हतोत्साहित न होकर ठोस उपलब्धियों का संग्रह करने में जुटा ही रहता है। कालान्तर में ठोस उपलब्धियों का एक विशाल ढेर हो जाता है जो मनुष्य की पूँजी वनकर उसके लिये गौरव का विषय एवं सुख-शांति का अमर स्रोत हो जाता है।

मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ एक साथ काम करती रहती हैं—एक उसे डराती है, निराश करती है, हतोत्साहित करती है तथा दूसरी उसे आगे वढ़ते रहने के लिये प्रेरित करती है; एक उसे पाप की ओर प्रवृत करती है, दूसरी उसे पुण्य की ओर;

एक उसे पतन की ओर उन्मुख करती है, दूसरी उत्थान की ओर। हमें सचेत रहना चाहिये तथा विघ्न-बाधाओं, निराशाओं, हानियों के होते हुए भी उपलब्धियों की दिशा में आगे बढ़ते रहना चाहिये, ठोस उपलब्धि करते ही रहना चाहिये। सेवा-कार्य, सृजन, शुभकर्म आदि ठोस उपलब्धि होते हैं जो मनुष्य की गरिमामय निधि होते हैं।

मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सखा 'राम भरोसो एक'—ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रखना है। संकट, शोक, चिन्ता, भय, अपवाद, विषाद, अशांति के क्षणों में दृढ़ ईश्वरनिष्ठा ही मनुष्य को संबल देती है किन्तु कभी-कभी मनुष्य प्रमादवश उन क्षणों में उसे ही भुला देता है जिसकी उसे परम आवश्यकता होती है। संकट की महौषधि ईश्वरनिष्ठा है। ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रखने वाला मनुष्य दुःख को ईश्वर का वरदान मानकर, प्रभु-इच्छा मानकर, स्वीकार कर लेता है तथा विचलित नहीं होता। संकट ईश्वरवादी के लिये परीक्षा का समय होता है। गुरु गोविंदसिंह के दो पुत्र युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गये तथा दो को दीवार में चिन दिया गया किन्तु गुरु शोकाकुल न हुए। उन्होंने कहा—'चार मुए तो क्या हुआ जीवत कई हजार।' गुरु गोविंदसिंह परीक्षा में खरे उतरे। लोकमान्य तिलक का बड़ा पुत्र पूना में फैली हुई महामारी में कालकवलित हो गया। उन्हें अविचलित देखकर लोग चकित हुए। सहज भाव में उन्होंने कहा—'होली आने पर सब अपने-अपने घर से एक-एक लकड़ी देते हैं। महामारी होली की भाँति आई है। इसमें शोक की क्या बात है?' यह महापुरुषों की संकट में दृढ़ता का ज्वलंत उदाहरण है। शोक के वातावरण में सन्तों का दर्शन, भगवद् भजन, हरिचर्चा और उत्तमजन के प्रेरक प्रसंग संबल प्रदान करते हैं।

ईश्वर भक्त विपत्ति में भी दयामय प्रभु का कल्याणकारी हाथ देखता है। भक्त नरसी ने अपने एकमात्र पुत्र के निधन होने पर भी ईश्वर को दोष नहीं दिया तथा कहा—'भलु थयु भांगा जंजाल सुखे भजीशु श्रीगोपाल" (भला हुआ छूटा जंजाल, सुख से भजेंगे श्रीगोपाल)। यह ईश्वरनिष्ठा की पराकाष्ठा है। वास्तव में सभी वस्तु और प्राणी प्रभु के हैं तथा हम उन्हें मोहवश अपना समझ लेते हैं। किसान अपनी खेती को कब और कैसे काटता है, यह उसका ही निर्णय है। बाग का माली कभी-कभी अधपके फल भी तोड़ लेता है जिसका कारण वह स्वयं ही जानता है।

परमात्मा मंगलमय एवं दयामय है तथा उसका विधान नितान्त मंगलमय है। ईश्वर-विश्वास में दृढ़ता होने से खोया हुआ आत्मविश्वास भी लौट आता है। दैवी विधान को नतमस्तक होकर स्वीकार करने से ही संतोष एवं शान्ति प्राप्त होती है। "जेहि विधि राखे राम तेहि विधि रहिये।" अल्पज्ञ मनुष्य ईश्वरविधान के रहस्य को नहीं जान सकता है। प्रकृति में कोई घटना भी निरुद्देश्य नहीं होती है यद्यपि हम उसके अन्तर्निहित रहस्य को नहीं समझ पाते। बहुत कुछ जानने पर भी

मनुष्य बहुत कम जानता है। ईश्वरविधान के अनुसार घटनाएँ घटती रहती है, हमें वे हितकर लगें अथवा अहितकर। अवश्यंभावी घटना का कोई विकल्प नहीं होता है। 'राम कीन्ह चाहहिं सोई होई, करै अन्यथा अस नहि होई।'

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्नतदन्यथा।
इतिचिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

'जो न होने वाला है वह नही होगा, जो होनी है, वह अवश्य होती है, अन्यथा नहीं होती। दुःखी जन चिन्ताविष को नष्ट करने वाली इस संजीवनी औपधि का सेवन क्यों नहीं करते?' हम मन में उलट-पुलट करते रहते हैं कि ऐसा करने से वैसा घटित न होता, किन्तु इस तर्क से कोई लाभ नहीं होता है। विधि के विधान में कुछ भी आकस्मिक एवं अकालिक नहीं होता। वाल्मीकि कहते हैं—'ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते।' निश्चय ही अकाल मृत्यु नहीं होती है। ईश्वर के विधान का विकल्प नहीं होता, उसे टाला भी नहीं जा सकता। "होइहि सोई जो राम रचि राखा, को करि तर्क वढ़ावहि साखा", शिव यह कहते ही शान्ति के लिये हरिनाम जपने लगे। 'अस कहि लगे जपन हरिनामा'। नियत स्थान और समय का संयोग होने पर मृत्यु घटित हो जाती है, भले ही निमित्त कुछ भी वन जायें। काल किसी को डंडा लेकर नहीं मारता, समय आने पर वह मनुष्य की कर्त्तव्यभावना, वल, बुद्धि और विवेक का अपहरण कर लेता है। 'काल दण्ड गहि काहू न मारा, हरई धर्म वल बुद्धि विचारा।' काल सिर पर चढ़कर बुद्धिमान व्यक्ति से भी मूर्खता का कार्य करा लेता है। ऐसे ही प्रसंग में शिव कहते हैं कि—ज्ञानी और मूढ़ कोई नहीं है, सब प्रभुइच्छा पूर्ति के निमित्त हैं। 'वोले विहंसि महेश तव ज्ञानी मूढ़ न कोय, जब जेहि रघुपति करहिं जस सो तेहि तत्क्षण होय।' भवितव्यता के परिप्रेक्ष्य में बुद्धि विधाता के लेख के अनुसार कार्य करती है। विधि लिखितं बुद्धिरनुसरति। मुनि वशिष्ठ भरत से कहते हैं कि छः वातों में मनुष्य विधि के अधीन है।'

सुनहु भरत भावी प्रबल, विलखि कहहिं मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ॥

सभी मनुष्य विधि के विधानानुसार जीवन के रंगमंच पर अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करके, अपना-अपना उद्देश्य पूरा करके, अपने-अपने निर्दिष्ट समय पर तथा अपने-अपने प्रकार से चले जाते हैं। यह संसार एक दैवी सत्ता का लीला-स्थल है तथा हम ईश्वर-लीला के रहस्य को नहीं समझ पाते। क्षति होने पर ईश्वर-इच्छा के रूप में उसे स्वीकार करने से हमें संतोप मिलता है।

जीवव में दुःख का एक महत्वपूर्ण स्थान है। दुःख का सही उपभोग करने पर मन निर्विकार एवं निर्मल हो जाता है। विवेकरहित होने पर दुःख पतनकारक एवं भयकारक हो जाता है किन्तु विवेकसहित होने पर दुःख आत्मा का उन्नायक हो सकता है। दुःखाग्नि में गुजरने पर आत्म-संशुद्धि होती है। दुःख गुरु हैं जो

मनुष्य को नश्वर से अनश्वर की ओर ले जाता है। कुन्ती ने कृष्ण से दुःख का वरदान मांगा था—विपदः सन्तु नः शश्वत् भवेऽस्मिन् भो जगद्गुरो। 'हे जगत्गुरु! मुझे सदा दुःख प्राप्त होते रहें।' कुन्ती का विश्वास था कि संसार से विरक्ति और ईश्वर से अनुरक्ति एवं असत् से विमुखता और सत् की सम्मुखता होने पर ही स्थायी शान्ति संभव है।

दुःख के वेग को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ देने पर वह सत्य का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। महात्मावुद्ध ने दुःख की चरमावस्था की अनुभूति के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया था। दार्शनिक कीरकेगार्द ने दुःख के प्रभाव को समझने के लिये शोकानुभूति के प्रयोग किये तथा दुःख की महिमा का गान किया। दुःख ही जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है। यदि हम शोक से मन को कुण्ठित न होने दें और शोक के प्रभाव का सदुपयोग करें तो वह स्थायी सुख की ओर उन्मुख कर सकता है। असत्य सत्य की ओर, दुःख आनन्द की ओर उन्मुख कर सकता है। यदि हम दुःख से मोहत्याग की शिक्षा ग्रहण करके सुख का भी मोहत्याग कर दें तो दुःख से सदा के लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाये। दुःख की साधना के द्वारा स्थितप्रज्ञ (समभावस्थित) होकर मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है।

हम सुख को बटोरना और दुःख को छोड़ना चाहते है किन्तु जीवन को स्वीकार करने पर हमें दोनो ही स्वीकार करने होंगे क्योंकि दोनो जीवन के अविभाज्य अंग हैं। सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जीवन रूपी वस्त्र में सुख और दुःख के धागे अविच्छेद्य एवं अवियोज्य हैं। सुख के साथ दुःख और दुःख के साथ सुख ऐसे ही जुड़ा हुआ है जैसे कि दिन के साथ रात और रात के साथ दिन जुड़ा हुआ है। सुख और दुःख को जीवन का अवियोज्य अंग स्वीकार कर लेने पर हम उन्हें सहज रूप में ग्रहण कर सकेंगे। किसी भी मनुष्य को किसी भी समय बड़े से बड़ा दुःख आ सकता है क्योंकि दुःख जीवन का अंग है। अतएव दुःख से भयभीत होने के बजाय उसका सामना करने का उपाय करना चाहिये।

जीवन की भाँति मृत्यु एक सहज़ घटना है। मृत्यु को जीवन की भांति ही सहज भाव से स्वीकार करना मृत्यु पर विजय पाना है। मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करना सीखने पर ही हम जीवन को पूर्णता में जी सकते हैं। जीवन को जीने की कला सीखने के साथ मृत्यु-आलिंगन की कला भी सीखनी चाहिये। 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः मरणान्तं च जीवितम्।' संयोग का अन्त वियोग तथा जीवन का अन्त मरण है। जन्म के बाद मरण होना एक ध्रुव सत्य है। 'एक दिन है सोवना लांबे पैर पसार।' प्रिय व्यक्ति की दुर्घटना से आकस्मिक मृत्यु हो जाना भी संसार की एक साधारण घटना ही तो है। अल्पायु में दुर्घटना, रोग आदि से मृत्यु होना संसार का एक साधारण तथ्य है। प्रभु के विधान को स्वीकार न करने के कारण ही हमारे मन में वेदना उत्पन्न होती है। मृत्यु को सहज घटना न मानने के कारण वह हमें क्लेशप्रद प्रतीत होती है। क्लेश का कारण हमारा मोहजनित अज्ञान तथा दैवी विधान के प्रति निष्ठा

का अभाव है। 'तमेव विदित्वा मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय'। ईश्वर को जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर लेता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, मृत्यु से भय नहीं मानता है।

वास्तव में मनुष्य अपने को कर्ता-भोक्ता मानने के कारण सुखी दुःखी होता है। दैवी प्रवाह में मनुष्य निमित मात्र है। यदि मनुष्य अपने अहंभाव से मुक्त होकर, 'मैं' से छूटकर, साक्षीभाव जगा ले तो वह दुःखों से सदा के लिये मुक्त हो जाये। गीता में श्रीकृष्ण का उपदेश है—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।' हे अर्जुन, तू अपने को निमित्तमात्र मान। कर्मनिमग्न होते हुए भी मन में तटस्थता रहनी चाहिये। ईश्वर के साथ जुड़कर सर्वत्र एकत्वदर्शन करने पर ज्ञानी का आत्मा ही सर्वभूत हो जाता है तथा वहां न मोह रहता, न शोक। यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ यजुर्वेद ४०।७।

विवेकशील मनुष्य अपने आदर्शों के अनुरूप जीवन-पथ पर आगे बढ़ता रहता है। गतिशील मनुष्य के पाप सो जाते हैं, श्रम करने से पाप नष्ट हो जाते है। अतएव रुको मत, आगे बढ़े चलो।

'शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः, चरैवेति।'

———

८

# विवशता-दर्शन

मानव के लिए जीवन एक गूढ़ पहेली है। उसे न अपने जीवन के उद्‌गम का ज्ञान है, न उसके तिरोभाव का। मानव बहुत कुछ जानकर भी बहुत कम जानता है। जन्म, शैशव, बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य और मृत्यु—यह एक क्रम है जिससे कोई भी वैज्ञानिक, विद्वान्, ज्ञानी, सन्त अथवा सत्ताधारी मुक्त नहीं है। काल तेजी से दौड़ता है, यौवन-पुष्प मुर्झा जाता है तथा मृत्यु प्रत्येक जीवित प्राणी को पकड़ लेती है। धृतराष्ट्र ने संजय से कहा—"न ह्येव ब्रह्मचर्येण न वेदाध्ययनेन च। न क्रियाभिर्न चास्त्रेण मृत्युः कैश्चिन्निवार्यते", अर्थात् कोई भी न ब्रह्मचर्य से, न वेदों के स्वाध्याय से, न कर्मों के अनुष्ठान से और न अस्त्रों से ही मृत्यु को टाल सकता है। प्रकृति के नियम सभी पर समान रूप से लागू हैं। सभी को मृत्यु होने पर सब कुछ यहीं छोड़ना पड़ता है। ज्ञान, विज्ञान, विचार, दर्शन तथा अनुभूति के आधार पर विभिन्न जीवन-दर्शनों का निर्माण हुआ है, किन्तु मनुष्य की बहुविध पराश्रयता निर्विवाद है।

अनन्त ब्रह्माण्ड में मनुष्य का अस्तित्व नगण्य है। ब्रह्माण्ड का विस्तार अकल्पनीय है। हमारे जगत् (आकाश-गंगा) में इस दृष्ट सूर्य की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल सौ अरब तारे हैं तथा इसका बड़ा व्यास लगभग एक लाख प्रकाश वर्ष है, जबकि एक प्रकाशवर्ष छः सौ अरब मील होता है। हमारा सौरमण्डल अपने जगत् के एक सूने से दूरस्थ कोने में स्थित है। ब्रह्माण्ड के जितने भाग का पता चला है, उसमें लगभग १९ अरब जगत् (आकाश-गंगा) हैं। प्रत्येक जगत् (आकाश-गंगा) में लगभग १० अरब विशाल तारे हैं। इस कल्पनातीत विशालता को सोचकर मनुष्य स्तब्ध हो जाता है तथा उसके मन में एक विचित्र एवं अदम्य जिज्ञासा जाग उठती है।

विज्ञानवेत्ताओं ने सूर्य तथा सौरमण्डल के ग्रहों के जन्म के सम्बन्ध में विविध अनुमान किये हैं तथा पृथ्वी पर जीवन के अवतरण की प्रहेलिका का समाधान करने

का भी प्रयत्न किया है। जीवन का उदय पृथ्वी पर प्रतिदिन गिरने वाली दो सौ टन उल्काधूलि से हुआ है अथवा यह पृथ्वी की ही देन हो सकता है। जीवन का उदय एवं विकास रहस्यपूर्ण है तथा पृथ्वी पर जीवन के अवतरण में मनुष्य का अपना कोई हाथ नहीं है।

अमोनिया, मीथेन, हाइड्रोजन आदि सहित एक अनुकूल वायुमण्डल, कार्बन, प्रकाश, जल तथा वनस्पति-जगत् के तैयार होने पर पृथ्वी पर जीवन का उदय हुआ, तथा क्रमिक विकास से अन्त में मानव अपनी अज्ञात भूमिका निभाने के लिए अटपटे ढंग से आ गया और समस्त पृथ्वी पर छा गया। मानव ने अपने बुद्धिबल से ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला, दर्शन इत्यादि का निर्माण किया तथा रहस्यों का चित्रण एवं उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया। जड़ प्रकृति की पृष्ठभूमि में चेतन मानव ने अपने बहुत कुछ ज्ञानार्जन किया तथा संस्कृति का निर्माण किया। किन्तु मानव अपने ज्ञान एवं अदम्य साहस के बावजूद विवशता की सीमाओं में बंधा हुआ है।

विवशता की चर्चा करते ही असंख्य प्रश्नों का विस्फोट हो जाता है। मानव की विवशताएँ अनन्त हैं और उनके प्रकार भी अनन्त हैं। किस मनुष्य का किस देश में जन्म हो, वहाँ कैसी राजनीतिक अथवा आर्थिक व्यवस्था हो, कैसी जलवायु मिले, मरुभूमि में जन्म हो अथवा हरी-भरी उपत्यका में हो, किस जाति में जन्म हो, वह जाति बर्बर हो अथवा सभ्य हो, उसे कौन माता-पिता मिलें, उसे माता-पिता का पोषण कैसा और कब मिले, पूर्वजों के कैसे जीन्स मिलें, कैसी इन्द्रियाँ एवं मस्तिष्क अथवा कद-काठी मिलें, कैसी बौद्धिक क्षमता हो, कितनी भावुकता हो, कितना कल्पना-वैभव हो, कैसा स्वभाव हो, कैसी देह मिले, कैसा रूप-रंग मिले, जन्म से ही विकलांग हो अथवा मस्तिष्क से अवरुद्ध (मन्द) हो, कैसा वर्ण हो, कैसा स्वभाव हो, कैसा परिवार हो, कैसे माता, पिता, भाई और बहिन मिलें अथवा न मिलें, उनकी क्या सामाजिक अथवा आर्थिक स्थिति हो, उनके कैसे रीति-रिवाज हों, परिवार तथा समाज में प्रतिष्ठा मिले अथवा न मिले, कैसी शिक्षा मिले और कहाँ तक शिक्षा मिलना सम्भव हो सके, कैसे संस्कार मिलें, किन परिस्थितियों में जीवन निर्माण हो— ये सब विवशताएँ हैं।

जीवनकाल में कैसी परिस्थितियां प्राप्त हों, किसी को बाल्यकाल में भी माता-पिता का संरक्षण प्राप्त हो अथवा न हो, शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त हो अथवा न हो, कैसे गुरुजन मिलें, कैसे मित्र मिलें, वे जीवन में कैसा परिवर्तन ला दें, कैसी जीवनवृत्ति बने, कब लाभ अथवा हानि, उन्नति अथवा अवनति हो, कब यश अथवा अपयश हो, कब व्यर्थ ही लांछन लग जाए, भला करते हुए भी चरित्रहनन तथा निन्दा हो जाए, कब झूठे मुक़दमे, झूठे आरोप लग जाएँ, कब कैसा मनोभाव (मूड) हो और व्यर्थ ही उत्तेजना होने पर अनर्थ हो जाए, कितनी आयु हो और वह अपने संजोए हुए

स्वप्नों को कितना पूरा कर सके—यह सब अनिश्चित है तथा इसमें मनुष्य विवश होता है।

हम प्रायः यह देखते हैं कि योजना, प्रयत्न और आशा के विपरीत तथा इच्छा के प्रतिकूल घटनाएं घटित हो जाती हैं। अनेक बार किसी के कुकर्म का फल अन्य जन को सहना पड़ता है। राजा दशरथ ने राम से कर्म-फल-सिद्धान्त के प्रति शंका प्रकट करते हुए कहा—

**सुभ अरु असुभ करम अनुहारी,**
**ईस देइ फलु हृदय विचारी॥**
**करइ जो करम पाव फल सोइ,**
**निगम नीति असि कहु सब कोई॥**

**और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग।**
**अति विचित्र भगवंत गति को जग जाने जोग॥**

दशरथ कहते हैं—'धर्मनीति यह है कि जो जैसा करता है, वैसा पाता है। किन्तु हम देखते हैं कि यह भी एक तथ्य है कि अपराध कोई करता है और फल कोई अन्य पाता है, जिसका अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं है। (अपराध कैकेयी अथवा दशरथ का था तथा वन-गमन राम का हुआ।)' परिवार अथवा पड़ौस में किसी एक के दुष्कर्म का फल सबको भोगना पड़ता है, एक व्यक्ति के व्यवहार से सारा परिवार निन्दित हो जाता है और अकस्मात् संकट आ जाता है। एक दुष्ट के कुकर्म का फल साधुजन को भी भोगना पड़ता है। रावण ने सीता का हरण किया और बेचारे समुद्र का बन्धन हुआ—

**खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु।**
**दशाननोऽहरत् सीतां बन्धनं स्याद् महोदधेः॥**

राजा दशरथ की भांति युधिष्ठिर भी नकुल से कहते हैं कि आपत्तियों की न तो कोई सीमा होती है और न उनका कोई निमित्त कारण ही स्पष्ट दिखाई देता है—

**"नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम्।"**

मनुष्य केवल जीवन-काल में ही नहीं, मृत्यु के सम्बन्ध में भी विवश है। जीवन पानी के बुद्बुद के समान चंचल और अनित्य है।

**"अहो ह्यनित्यं मानुष्यं जलबुद्बुदचंचलम्।"**

(महाभारत-द्रोणपर्व)

कौन व्यक्ति कहां और कैसे मृत्यु को प्राप्त हो, कुछ कहा नहीं जा सकता। अन्त किस प्रकार और कहां हो, इसकी कोई गारन्टी नहीं है। स्वयं राम को सरयू में जल-समाधि लगा कर प्राणान्त करना पड़ा। श्रीकृष्ण को भी भील के बाण से मृत्यु

प्राप्त हुई। पांचों पांडवों को हिमालय की हिम-राशि में गल कर मृत्यु मिली। गौतम बुद्ध को परिनिर्वाण के समय रक्तस्राव की असह्य पीड़ा में मृत्यु प्राप्त हुई। आदि शंकराचार्य की मृत्यु भगन्दर की वेदना में हुई। व्याकरणाचार्य पाणिनि ऋषि को सिंह ने खा लिया था। मीमांसाशास्त्र के रचयिता जैमिनि मुनि को हाथी ने मार दिया था। मीमांसाशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् कुमारिल भट्ट ने अनेक शिष्यों के समक्ष तुषानल पर लेट कर आत्म-दाह किया था। वल्लभाचार्य ने गंगा में समाधि ली। संत तुलसीदास को मृत्यु से पूर्व घोर वाहु-पीड़ा सहनी पड़ी। सन्त ज्ञानेश्वर ने समाधि ली थी। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु मुख के कैंसर से हुई। स्वामी विवेकानन्द मलेरिया और मधुमेह से ग्रस्त होने पर क्षीण होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। स्वामी रामतीर्थ गंगा में प्रवाहित हो गये थे। महर्षि रमण पीठ के कैंसर से मृत्यु को प्राप्त हुए। स्वामी दयानन्द विप दिये जाने से मरे। स्वामी श्रद्धानन्द बन्दूक की गोली से शहीद हुए। महात्मा गांधी भी रिवालवर की गोली से शहीद हुए। लाला लाजपतराय लाठी-प्रहार से मरे। लाला हरदयाल विप दिये जाने से मरे। सुभाषचन्द्र बोस विमान-दुर्घटना से मरे। कवयित्री तरुदत्त क्षय रोग से मरी। गुरु तेग बहादुर जी का सिर तलवार से काट दिया गया। भाई मतिदास आरे से चीरे गये। सतीदास के शरीर पर रुई लपेटकर आग लगा दी गई तथा भाई दयालदास खौलते हुए पानी में डाले जाने से मरे। बंदा वैरागी हाथी के नीचे कुचले जाने से मृत्यु को प्राप्त हुए। शम्श तबरेज खाल खींची जाने से मृत्यु को प्राप्त हुए। खुदीराम बोस, भगत सिंह, करतारसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, अश्फाकउल्लाह, सूर्यसेन, मदनलाल ढींगरा, ऊधमसिंह आदि अगणित वीरों को फांसी के फन्दे से मृत्यु मिली। चन्द्रशेखर आजाद ने पुलिस से घिरने पर स्वयं अपने ऊपर गोली चला कर प्राणोत्सर्ग किया। क्रांतिकारी इन्दुभूषण राय ने जेल की कोठरी में अपमान से बचने के लिए फांसी लगा कर आत्म-हत्या की थी। तात्या टोपे आदि अनेक वीरों को अंग्रेजी सरकार ने फांसी दी थी।

ईसा मसीह को कीलें ठोक कर मार दिया गया। सुकरात को विप-पान से मारा गया। अब्राहम लिंकन तथा कैनेडी को गोली से मारा गया। मार्टिन लूथर किंग को भी गोली से मारा गया। वैज्ञानिक ब्रूनो को जला कर मार दिया गया। आर्कमिडीज को मार्सिलीज के आक्रामक सिपाहियों की तलवार से मार दिया गया जब वह गणित के प्रश्नों में लीन बैठा था। महाकवि शैले डूब कर मरे, महाकवि कीट्स क्षय रोग से मरे। सर वाल्टर रैले को राजद्रोह के अपराध में तलवार से मार दिया गया। लार्ड क्लाइव का निधन आत्म-हत्या से हुआ। हिटलर स्वयं विष खाकर मरा। जनरल रोमेल को फांसी दी गयी। मार्शल गोयरिंग को फांसी से बचने के लिये विष खा कर आत्म-हत्या करनी पड़ी। हिटलर के प्रचार मंत्री जोसफ गोयबिल्स को भी विष खाकर आत्म-हत्या करनी पड़ी। मुसोलिनी अपने ही सैनिकों के द्वारा गोली से मार दिया गया। बंग-बंधु मुजीब गोली से मारे गये। स्पेनी कवि, फेडरिक

गार्शिया लोरिका को शासन के आदेश पर सिपाहियों की गोली से मार दिया गया। फ्रांस में देवी जोन आफ आर्क को जीवित ही जला दिया गया। लुई ब्रेल क्षय रोग से मरे। ट्राट्स्की को बर्फ काटने की कुल्हाड़ी से सिर फाड़ कर मार दिया गया। नोबल-पुरस्कार-विजेता उपन्यासकार हेमिंग्सवे ने बन्दूक की गोली से आत्म-हत्या की। जापान के नोबल-पुरस्कार-विजेता यासूनारी कावा बाता ने आत्मघात किया था। आस्ट्रियन नोबल-पुरस्कार-विजेता स्टीफेन ज्वेग अत्यधिक नींद की गोली खाकर मरे। प्रख्यात विश्व-यात्री मैगलान की हत्या मैक्टान द्वीप में की गई।

ब्रूटस ने अपने शरीर में तलवार घोंप कर, क्लोपेट्रा ने स्वयं ही भयानक सर्प से कटवा कर आत्म-हत्या की। स्टीफेन (बाइबिल में वर्णित) को पत्थर मार-मार कर मार दिया गया था। हजरत उमर साहिब अबूललू नामक एक गुलाम के खंजर से शहीद हुए, हजरत उसमान को कुरान शरीफ पढ़ते हुए घेर कर विरोधियों ने तलवार से मार दिया। हजरत अली को मस्जिद में नमाज पढ़ते हुए शत्रुओं के द्वारा कत्ल किया गया, हजरत इमाम हसन साहब को विष से तथा हजरत इमाम हुसैन को करबला के युद्ध में तलवार से शहीद किया गया।

जापान में अगणित लोगों ने "हराकिरी" से और भारत में अगणित जैन साधुओं ने सल्लेखना अपनाकर तथा अगणित स्त्रियों ने सती-प्रथा के अनुसार सती होकर प्राणोत्सर्ग किया।

किस मेधावी की अल्पायु में ही कब मृत्यु हो जाये, यह भी कौन जानता है? ईसा मसीह ३३ वर्ष की आयु में, शंकराचार्य ३२ वर्ष की आयु में, चैतन्य महाप्रभु ४८ वर्ष की आयु में, सन्त तुकाराम ४२ वर्ष की आयु में, सन्त ज्ञानेश्वर २१ वर्ष की आयु में, स्वामी विवेकानन्द ३९ वर्ष की आयु में तथा स्वामी रामतीर्थ ३३ वर्ष की आयु में मृत्यु को प्राप्त हो गये। गणितज्ञ रामानुजम् ३३ वर्ष की आयु में, कवयित्री तरुदत्त २१ वर्ष की आयु में, संगीत सम्राट् कुन्दनलाल सहगल ४६ वर्ष की आयु में ही पंचत्व को प्राप्त हो गये। माधवराव पेशवा २७ वर्ष की आयु में मरे। कमला नेहरू ३७ वर्ष की आयु में मृत्यु को प्राप्त हुई। अमर शहीद भगतसिंह २३ वर्ष की आयु में, शहीद अश्फाक उल्लाह २७ वर्ष, शहीद करतार सिंह १९ वर्ष, सूर्यसेन ४१ तथा चन्द्रशेखर आजाद २५ वर्ष की आयु में शहीद हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ३५ वर्ष, श्री प्रताप नारायण मिश्र ३९ वर्ष, जयशंकर प्रसाद ४६ वर्ष, सुभद्रा कुमारी चौहान ४३ वर्ष की आयु में संसार छोड़ कर चले गये। महाराष्ट्र के गुलाबराव महाराज ने ३४ वर्ष की आयु में महाप्रयाण किया।

महाकवि शैले ३० वर्ष की आयु में, कीट्स २६ वर्ष और बायरन ३६ वर्ष की आयु में ही संसार से विदा हो गये। गैलोएस, एबल, पास्कल, ग्रीगोरी, जैकोबी तथा मैक्लोरिन प्रसिद्ध गणितज्ञ थे तथा क्रमशः २०, २७, ३९, ३७, ४७ और ४८ वर्ष की अल्पायु में ही धरती से उठ गये। प्रख्यात पियानोवादक नैविल चिनोय १९

वर्ष की आयु में ही, प्रख्यात जर्मन-संगीतज्ञ मोत्सार्ट ४३ वर्ष की आयु में धरती छोड़-कर चले गये। खलील जिब्रान केवल ४८ वर्ष, अमेरिका के संत लेखक हेनरी डेविड थारो ४५ वर्ष, रूसी साहित्यकार पुश्किन ३८ वर्ष की आयु में, सर फिलिप सिडनी ३२ वर्ष की आयु में, क्रिस्टोफर मार्लो २९ वर्ष की आयु में, प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका जेन आस्टिन ४१ वर्ष की आयु में, शारलेटी ब्राण्टे, एमिली ब्राण्टे और एनी ब्राण्टे तीनों लेखिका बहनें क्रमशः ३९, ३० और २९ वर्ष की आयु में, और अन्ध-जगत् के शिक्षक लुई ब्रेल ४३ वर्ष की आयु में ही चल बसे। सेन्ट जान भी अल्पायु में ही दिवंगत हुए। सिकन्दर महान् ३३ वर्ष की अल्पायु में ही संसार छोड़ गये।

मनुष्य योजना बनाता है, सुनहरे स्वप्न संजोता है, कुछ अरमान पालता है, आशा बांधता है, तदर्थ परिश्रम करता है, किन्तु अकस्मात् वह काल-कवलित हो जाता है। कैसी विडम्बना है ? कवि कहता है—

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पद्मजातम्।
इत्येव चिन्तयति कोषगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥"

एक भौंरा सांझ होते ही सूर्य के प्रकाश के न रहने के कारण कमल-कलिका में बन्द हो जाने पर उसकी कोमल पंखुड़ियों में कैद हो गया। वह आशा बांधने लगा कि रात्रि बीतेगी, सुप्रभात होगा, सूर्योदय होगा, पद्म खिलेंगे और मैं भी मुक्त होकर स्वच्छन्द उड़ूँगा और पुनः पुष्परस का आस्वादन करूँगा। किन्तु हन्त, हन्त, जब वह पद्मकोप में स्थित ऐसा सोच ही रहा था, एक हाथी आया और उसने नलिनी को ही उखाड़ फेंका।

आकस्मिक परिस्थितियाँ केवल व्यक्ति को ही नहीं, समूह एवं समाज को भी अनजानी दिशा में मोड़ देती हैं तथा असहाय एवं परवश बना देती हैं। कब हरीभरी फसल को आंधी, बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, तुषारपात, टिड्डी दल विनिष्ट कर दे, कब खड़ी फ़सल पर ओले पड़ जायें अथवा कीड़ा लग जाये, कब भूकम्प लाखों लोगों को बरबाद करके दयनीय अवस्था में ला दे, कब जलयान, वायुयान, रेल, बस की दुर्घटना अथवा अग्नि-काण्ड, बिजली इत्यादि सहस्रों का अन्त कर दे और एक जन-पद का स्वरूप ही बदल डाले, कौन कह सकता है ?

राष्ट्र के जीवन में आकस्मिक राजनीतिक घटनाएं मात्र संयोग से विवशता की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। यदि बाबर, डलहौजी, क्लाइव भारत न आते, महात्मा गांधी न होते तो देश का इतिहास ही भिन्न होता। मार्क्स के अभाव में आधी दुनिया का वर्तमान रूप न होता। नैपोलियन, मुसोलिनी, हिटलर, लेनिन ने यूरोप के मानचित्र को ही बदल दिया। कमालपाशा, सनयात सेन, माओ, हो ची

मिन्ह, तिलक, गोखले, गाँधी ने अपने-अपने देश का रूप बदल दिया। सत्ता पाकर कौन राष्ट्र को किधर ले चले, वह कब देश को किस अच्छी या बुरी स्थिति में ला दे, उसका विश्व पर क्या प्रभाव पड़े तथा स्वयं कब लुप्त हो जाये अथवा हट जाये, यह समूचे राष्ट्र के लिये एक विवशता ही है। कभी-कभी इने-गिने लोग इतिहास को बदल देते हैं।

विचार के क्षेत्र में भी कतिपय व्यक्ति समाज की विचारधारा ही बदल देते हैं। ईसा, मोहम्मद, बुद्ध, महावीर, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस ने धर्मक्षेत्र में लगभग सारी मानवता को अपने विचारों से प्रभावित कर दिया। यह संयोगजन्य वैचारिक विवशता है। विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन, डार्विन, आइन्स्टीन आदि वैज्ञानिकों ने उथल-पुथल कर दी तथा कुछ आविष्कारों ने सभ्यता एवं जीवन-पद्धति को ही बदल दिया। यदि वे कतिपय विशिष्ट व्यक्ति न होते, तो संस्कृति एवं सभ्यता का यह सुन्दर स्वरूप न होता। यह संयोगजन्य विवशता है।

मानव का भविष्य भी अनिश्चित ही है। कब, किस प्रकार की घटनाएँ व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र अथवा विश्व का स्वरूप बदल दें, यह मनुष्य की शक्ति से परे है। कौन जानता है कि कब, किस प्रकार की विवशता उत्पन्न हो जाये ?

क्या व्यक्तिगत एवं समष्टिगत जीवन में विवश करने वाली ये घटनाएं अनियोजित एवं आकस्मिक हैं। क्या ये घटनाएं निरुद्देश्य हैं ? अथवा क्या इनके पृष्ठ में एक रहस्यमय सूत्रधार का सुनियोजित उद्देश्य है, जो सृष्टि का सर्जन एवं संचालन करता है ? क्या ये घटनाएं सोद्देश्य हैं ? अन्तिम सत्य क्या है ? कुछ लोग विश्व में व्यवस्था एवं उद्देश्य को पहचान कर उसके अन्तराल एवं पृष्ठ में ईश्वर-तत्त्व के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। वे प्रत्येक घटना में दयामय ईश्वर के शिवत्व का दर्शन करते हैं तथा उसे हितप्रद मानते हैं। कुछ लोग प्रकृति को स्वयंभूतः मानकर स्पष्टतः संयोग को महत्त्व देते हैं और किसी दिव्यता अथवा रहस्यमयता में विश्वास नहीं करते। कुछ लोग केवल दैव को महत्ता देते हैं। नैपोलियन सर्वत्र दैव का हाथ देखता था। सांख्यदर्शन के अनुसार किसी भी कर्म अथवा घटना होने में स्थान, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, विविध चेष्टाओं के अतिरिक्त पांचवाँ कारण दैव भी होता है। "दैवं चैवात्र पंचनम्" (गीता १८, १४)। कुछ लोग कोई भी निर्णय न लेकर सन्देह में ही रहते हैं तथा "हम नहीं जानते, हम कुछ नहीं कह सकते", यह कहकर छोड़ देते हैं। कोई दैव में विश्वास करते हैं, किन्तु उसे मानव के विरुद्ध षड्यन्त्रकारी, निश्चित रूप से क्रूर, निष्करुण एवं दुःखप्रद सिद्ध करते हैं। टॉमस हार्डी कहते थे कि जीवन दुःख से व्याप्त नाटक है, जिसमें सुख तो लघु अन्तर्कथाओं की भाँति यत्र-तत्र अनुस्यूत है। यह निराशावाद का दर्शन है। महाभारत में कहा गया गया है कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है—'सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः'। यही भाव "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" तथा "सर्वं दुःखं-दुःखं, सर्वं हेयं

हेयम्" में ध्वनित होता है। इसमें भी निराशा की झलक है। ईश्वरभक्त संसार को लीलाधारी परमेश्वर की लीलामात्र मानते हैं, जिसका रहस्य वह स्वयं ही जानता है। कर्मवादी लोग मनुष्यों के दुःख, सुख, हानि, लाभ आदि में कर्मफल एवं प्रारब्ध (कर्मफल-संचय) का दर्शन करते हैं तथा कर्म को महत्व प्रदान करते हैं। मनुष्यों के फल कर्म के ही अधीन होते हैं। "कर्मायत्तं फलं पुंसाम्।" मनुष्य को चाहिये कि वह अपने सुख-दुःख का कारण अपने को ही समझे। "आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुखदुःखयोः" (चरक)। सुख-दुःख का प्रदाता अन्य कोई नहीं है, क्योंकि मनुष्य अपने किये हुए कर्म का ही फल पाता है। "सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यंतः स्वकृतभुक्-पुमान्" (श्रीमद्भागवतम्)। प्रारब्धवादी कहते हैं कि बुद्धि असहाय होकर विधिलिखित प्रारब्ध का अनुसरण करती है—"विधिलिखितं बुद्धिरनुसरति"। उनके विचार से फलभोग में भाग्य बलवान् होता है, विद्या और पौरुष नहीं। "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।" प्रारब्धवादी भावी को अवश्यम्भावी मानते हैं। "यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।" अर्थात् यदि होनी नहीं है तो होगी नहीं, यदि होनहार है तो वह बदल नहीं सकती। "होनी तो होकर रहे अनहोनी नहीं होय।" प्रारब्धवादी के अनुसार प्रारब्ध पूर्वजन्मकृत कर्म का फल होता है। 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते।' अनेक लोग भाग्य को मूर्खों की कल्पना मानते हैं तथा पुरुषार्थ करना ही बुद्धिमत्ता समझते हैं, पुरुषार्थ से ही वे उत्तमपद को प्राप्त होते हैं। मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः। प्राज्ञास्तु पुरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः॥ (योगवासिष्ठ)। पाठान्तर—

दैवं न किंचित्कुरुते केवलं कल्पनेदृशी।
मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः॥

इस जन्म के अतिरिक्त पूर्वजन्म अथवा पश्चात् जीवन की मान्यता परम्परागत विश्वास पर आधारित है। वर्तमान प्रत्यक्ष जीवन एक यथार्थ है तथा उसकी समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति एवं चिन्तनशक्ति कहां तक स्वतन्त्र है, यह विवादास्पद है। यह निर्विवाद है कि व्यक्ति की इच्छाशक्ति एवं चिन्तनशक्ति उसकी शिक्षा-दीक्षा एवं पर्यावरण से पर्याप्त रूप से प्रभावित एवं अनुकूलित होती हैं तथा उसमें परवशता आ जाती है।

पृथ्वी पर जीवन का सादृश्य उस पक्षी से किया जा सकता है, जो प्रकाश से आलोकित तथा विविध प्रकार की चहल-पहल से भरे हुए एक विशाल भोजनकक्ष में सहसा किसी वातायन से प्रविष्ट हो जाता है तथा थोड़ी देर तक उसमें मंडरा कर किसी अन्य वातायन से निकल जाता है। जिस असीम एवं अज्ञात अन्धकार से वह आया था, उसी में जाकर सदा के लिये विलुप्त हो जाता है।

लाई हयात आये हम कजा ले चली चले।
अपनी खुशी न आये, न अपनी खुशी चले॥

एक अन्य कवि की उक्ति है—

न जीने पर ही काबू है, न मरने का ही इकमां है।
हकीकत में इन्हीं मजबूरियों का नाम इन्सां है॥

यही है मानव-जीवन की कहानी।

संसार एक पथरीली नदी है, जिसकी धारा का प्रवाह अत्यन्त भीषण एवं द्रुत है। पैर फिसला और गिर कर बहे। मनुष्य स्वार्थ, लोभ और तृष्णा के कारण परस्पर घात करते हैं तथा जीवन घृणा, ईर्ष्या-द्वेष और हिंसा से व्याप्त है। ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति का अत्यधिक विकास होने पर भी जीवन में शान्ति दुर्लभ है। मानव अपूर्ण है तथा अतृप्त एवं अशान्त है। यहां सभी नश्वर है तथा जीवन क्षणभंगुर है। मनुष्य के लिए जीवन एक यात्रा है तथा उसका पथ सर्वथा दुरूह एवं अनजाना है, जिसमें पग-पग पर कठिन अवरोध हैं। अनेक बार वृद्धता, रोग और मृत्यु दायित्व-निर्वाह को असम्भव कर देते हैं। यह एक विवशता है।

वैज्ञानिक प्रकृति के रहस्यों को सुलझाने में संलग्न हैं। किन्तु उनकी अपनी सीमाएं हैं, क्योंकि मनुष्य की आयु सीमित एवं अत्यल्प है तथा विज्ञान की खोज पदार्थ-विषयक होने के कारण भौतिक पदार्थों तक ही सीमित है। मनोवैज्ञानिक मन की मूलभूत क्रियाओं के रहस्य की खोज कर रहे हैं तथा दार्शनिक तर्क एवं अनुमान का सहारा लेकर सत्य के यथासम्भव अनुसन्धान एवं निरूपण करने में रत हैं। सत्य ही तो परम धर्म है। "आहुः सत्यं हि परमधर्मं धर्मविदो जनाः" (वाल्मीकि)—अर्थात् धर्मवेत्ता सत्य को ही परम धर्म कहते हैं। वाल्मीकि यह भी कहते हैं कि सत्य ही संसार में ईश्वर है और सत्य में ही धर्म का निवास है। "सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मः सदाश्रितः।" सत्यानुसंधान परम कर्त्तव्य है, सत्य-संदर्शन परम उपलब्धि है। तुलसीदास कहते हैं—"धरम न दूसर सत्यसमाना। आगम निगम पुरान बखाना॥" जीवन की विवशताओं के बीच भी सिर उठाये हुए सत्यानुसरण करने वाला मनुष्य सचमुच महान् होता है। विवशता बाधक होते हुए भी साधक हो सकती है। विवशता की साधना एक तप है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व को परिष्कृत कर देती है।

जीवन एक अभिशाप है अथवा वरदान, यह एक चुनौती है। प्रत्येक मनुष्य इस चुनौती का सामना करने के लिये संघर्ष करता है तथा शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, वह जीवन-संघर्ष के लिये अपने विचारों एवं मान्यताओं, विश्वास एवं आस्था के आधार पर एक जीवन-दर्शन का निर्माण करता है। ज्ञान एवं अनुभव तथा शिक्षा-दीक्षा के अभाव में मनुष्य विषम परिस्थितियों से टकराकर नष्ट हो जाता है, चीत्कार कर उठता है। यह जीवन की ज्वलंत समस्या है कि वह किस प्रकार जीवन की विवशता-जन्य चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ता जा सकता है।

मनुष्य शिक्षा के माध्यम से भौतिक वस्तुओं का ज्ञान तो बटोरता है किन्तु यह शिक्षा जीवन-संघर्ष के लिये व्यक्ति को अपना व्यक्तिगत जीवन-दर्शन बनाने में सक्रिय सहायता नहीं करती। संकट आने पर, प्रतिकूल परिस्थिति में, लब्धप्रतिष्ठ विद्वान सहज ही टूट जाते हैं और नैराश्य एवं ग्लानि में डूबकर दयनीय हो जाते हैं।

जीवन यापन एक कला है, जिसकी शिक्षा-दीक्षा और अभ्यास प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक उपलब्ध होना चाहिये। जीने की कला विद्यामन्दिरों की विद्या एवं ज्ञान-सामग्री से सर्वथा भिन्न है यद्यपि वह उससे सम्बद्ध अवश्य है। मनुष्यत्व का निर्माण होने पर मनुष्य ज्ञान-सामग्री का उचित उपयोग करके कृतार्थ हो सकता है। इसके अभाव में जीवन एक दुर्वह बोझ बन जाता है। ज्ञान संसार में सुख-सुविधा की सामग्री प्रस्तुत कर सकता है किन्तु सुख और शान्ति तो व्यक्ति एवं समाज के द्वारा जीवन-कला सीखने एवं अभ्यास करने से ही उपलब्ध हो सकते हैं। जीवन-यात्रा के सभी पथिक समान हैं तथा सभी की समस्याएँ एवं उपाय विविध होते हुये भी मूलत: एक हैं।

जीवन-यापन कला में कुशल व्यक्ति जीवन की पथरीली नदी के अवरोधक पाषाण खण्डों में मधुर संगीत एवं सौन्दर्य का दर्शन करता है, उनमें जीवन-सन्देश सुनता है और जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को समाहित कर लेता है। जीवन-वीणा के तारों को खींचना तो आवश्यकता होता है किन्तु कुशल कलाकार के हाथों में उनसे मधुर झंकार निकलती है तथा तार टूटते नहीं हैं। महापुरुषों के जीवन-वृत्त के प्रेरक प्रसंग जीवन-पथ को आलोकित करते हैं।

ऐसे अनेक ज्वलन्त उदाहरण हैं जहाँ मानव ने विवशता का अधिकतम सम्भव उपयोग किया है। विकलांगता से उत्पन्न असमर्थता को मानसिक स्तर पर जीतकर बायरन, वाल्टर स्काट, तैमूर आदि ने अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त की। बीथोवन बिल्कुल बहरे हो गये थे तथा जब संगीतवादनसम्राट् के रूप में उनका करतल ध्वनि से अभिनन्दन होता था, उन्हें न अपनी वादन-ध्वनि सुनाई देती थी, न प्रशस्ति के शब्द ही। जैक ऐशले, एक बधिर, ने ओष्ठों से पढ़ना सीखा और संसद् में बधिरों के हितों की वकालत की। सूरदास तथा महाराष्ट्र के गुलाबराव महाराज की भांति अन्ध महाकवि मिल्टन ने कालजयी काव्य रचना की। यह विवशता में साधना का प्रतिफल है। बरबस आई हुई विपत्ति अथवा विवशता के साथ भी जीना सीखना उसे जीतना है। विलियम जेम्स ने ठीक कहा है—"जो कुछ भी हो चुका है उसे स्वीकार करना, विपत्ति के फल पर विजय पाने की दिशा में प्रथम पग है।"

प्राय: शिक्षा का उद्देश्य उत्तम समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, विचार-सम्प्रेरण, चिकित्सा-विज्ञान, तकनीकी आदि को प्रोत्साहन देना माना जाता है। उसका प्रमुख किन्तु उपेक्षित आयाम व्यक्ति के भीतरी निर्माण की दिशा में है। शिक्षा हमारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत न करे, बल्कि हमें स्वयं समाधान करने में

सहायता दे। मनुष्य जीवन की चुनौतियों को स्वीकार करना सीखकर जीवन के लिये तैयार हो तथा किसी भी परिस्थिति में उसमें भावात्मक असन्तुलन, पलायन, झिझक, संकोच, घबराहट, निराशा, भय, आवेश, उन्माद, क्षोभ और तनाव उत्पन्न न हों। आज के यान्त्रिक युग में मनुष्य एक नीरस, भाव-विहीन और अटपटा यन्त्र बनकर रह गया है। पग-पग पर व्यक्तिगत झगड़े, हिंसा तथा विश्व-महायुद्ध की विभीषिकाएँ एवं अशान्ति उसे लील रही हैं।

जीवन में संयोग और विवशता परस्पर आबद्ध हैं तथा उनका व्यक्ति एवं समाज के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन सपाट एवं समतल नहीं हो सकता तथा उसमें अतृप्ति और अकेलापन, क्लेश और ग्लानि होना सम्भव है। सदासुख होना दुर्लभ है— दुर्लभं हि सदा सुखम् (वाल्मीकि)। अतएव जीवन के प्रति ऐसे तथ्यात्मक, व्यावहारिक एवं रचनात्मक दृष्टिकोण का विकसित होना आवश्यक है कि मनुष्य विवशता के साथ उचित समझौता करता हुआ भविष्योन्मुखी होकर अप्रतिहत गति से यथाशक्य आगे बढ़ने का प्रयत्न करता रहे। अनिश्चितता एवं विवशता के कारण निरन्तर आशंका एवं भय में जीने से जीवन एक दूभर बोझ हो जाता है। यह तो सत्य है कि असहाय एवं विवश होने पर समर्थ, तेजस्वी व्यक्ति भी कुछ नहीं कर सकता जैसे, कि वायुरहित स्थान में अग्नि भी स्वयं शान्त हो जाती है। 'असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति। निवातपतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति।' किन्तु यह भी सत्य है कि विवशता में प्रयत्न करते रहना ही गतिशीलता एवं जीवन है। जब तक मनुष्य निर्जीव होकर शव न हो जाये, गतिशील रहना चाहिये। गतिशीलता में कृतार्थता है तथा दैव को दोष देकर निस्पन्द होकर बैठ जाना अविवेक है।

"न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना।
स्पन्दनाच्च फलसंप्राप्तिस्तस्माद् दैवं निरर्थकम्।" (योगवासिष्ठ)

कायर ही कहते हैं कि जो कुछ होना होगा हो जायेगा और वे दैवके भरोसेपर निष्क्रिय होकर बैठ जाते हैं। कातराः एव जल्पन्ति यद् भाव्यं तद् भविष्यति। दैव कुछ भी करता रहे, घटनाचक्र अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, मनुष्य सतर्क होकर, विवेक के अनुसार कर्त्तव्य कर्म करता रहे। मनुष्यों को सदा पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। यद्यपि बुद्धिमान् व्यक्ति को यह भी न भूलना चाहिये कि फल के सम्बन्ध में पुरुषार्थ की एक अपनी सीमा भी होती है। 'समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवैः सदा। परमुद्योगसीमायाः धीमान् ध्यानं न विस्मरेत्।' विवशता का ध्यान रखने पर क्लेश एवं निराशा नहीं होते हैं। मनुष्य अन्तिम समय तक जीवन के सन्देश को खोजने में संलग्न होकर जीवन की गहराइयों का रसास्वादन कर सकता है। टेनसी राज्य की लंगड़ी बालिका विल्मा गोल्डीन रुडाल्फ ने १९६० के ओलिम्पिक में तीन स्वर्ण पदक प्राप्त किये। प्रख्यात भौतिकी वैज्ञानिक स्टीफेन हाकिन रोगग्रस्त होने के कारण ह्वील चेयर से ही चल सकते हैं तथा कठिनाई से ही बोल सकते हैं तथापि भयंकर स्नायविक

रोग उनके मन को नहीं छू सका है और उन्होंने आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त में असाधारण उल्लेखनीय प्रगति की है तथा अनेक नये सिद्धान्तों को जन्म दिया है। वे समस्त गणना मन में ही करते हैं।

यह तो शासन का धर्म है कि समाज में सबको सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक न्याय मिले और व्यक्ति एवं समाज उसके लिये प्रयत्न करें किन्तु व्यक्ति भी अपने जीवन को ऐसा साध ले कि वह गतिशील संसृति—परिवर्तनशील जगत्‌-के साथ सामंजस्य स्थापित करके, प्रकृति के साथ आत्मीयता का नाता जोड़ ले तथा प्रकृति के तन्त्र के साथ सक्रिय अंगभूत हो जाये। यदि मनुष्य यह समझ ले कि किसी भी परिस्थिति में उसकी क्या भूमिका है तथा उसे उसका निर्वाह किस प्रकार करना है तो वह सदैव प्रफुल्लचित्त रह सकता है। यदि मनुष्य अपने मन को साध ले और भीतर प्रसन्न रहना सीख ले, वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रह सकता है। वह आकस्मिक संकट आने पर, घोर निन्दा एवं अपयश, हानि, स्वप्न-भंग, विफलता, प्रियजन की मृत्यु होने अथवा अपनी मृत्यु आसन्न होने पर शोक, भय, चिन्ता, तनाव, अकेलापन, दीनता, पीड़ा आदि से बचकर सन्तुलित एवं सम रह सकता है। किसी मित्र को सर्वस्व लुटाने पर भी उसके कृतघ्न होने पर, इष्टजन की आकस्मिक मृत्यु होने पर तथा प्रयत्न विफल होने पर, मनुष्य इच्छा शक्ति को यथाशक्य जागरित रखकर कर्म करते हुये और अनुभव एवं अनुभूति के आधार पर तथ्यों का अध्ययन करते हुये, जीवन के उद्‌गम एवं उद्देश्य का पता लगा सकता है तथा आत्मसन्तुष्ट रह सकता है।

विवशता और विषम स्थिति ही तो हमें सिखाते हैं कि धनादि का उपयोग स्वार्थ के लिये नहीं, परोपकार के लिये होना चाहिये, शोक का उपभोग नहीं, उपयोग होना चाहिये, प्राप्त ज्ञान-शिक्षा से सभी को आलोक प्रदान करना चाहिये, व्यक्ति का समाज के साथ स्वस्थ सामंजस्य होना चाहिये तथा उसे स्वार्थ एवं संकीर्णता छोड़कर उदार और व्यापक होना चाहिये। देश धर्मसापेक्ष हो अथवा धर्मनिरपेक्ष, हमें सर्वधर्मसमभाव एवं सर्वधर्मसमादर के आधार पर धर्मों के व्यावहारिक पक्ष तथा व्यापक मानव धर्म पर बल देना चाहिये।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में अनेक स्थानों पर विवशता-दर्शन की झलक दिखाई देती है। श्रीकृष्ण मृत्यु की अनिवार्यता की चर्चा करते हुये अर्जुन को समझाते हैं कि जहाँ विवशता हो, वहाँ दुःख मानने से कोई लाभ नहीं है।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ (गीता २।२७)

जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, अतएव अपरिहार्य बात का शोक करना उचित नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य किसी भी अवस्था में कर्म किये बिना नहीं रह सकता तथा प्रकृतिजन्य गुणों के कारण यह उसकी परवशता है। न हि किञ्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृति-

जैर्गुणैः॥ (३।५ गीता) श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं कि शरीरधारी कर्म न छोड़ सकने में परवश है। न हि देहभृता शक्यं त्युक्तुं कर्माण्यशेषतः। (१८।११ गीता) शोक में निमग्न होने पर भी मनुष्य की दैनिक आवश्यकताएँ (लघुशंका, शौच, क्षुधा, पिपासा इत्यादि) तथा उसके दायित्व उसे कर्म करने के लिये विवश कर देते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य प्रकृति के हाथों में खिलौना है तथा विवश होकर आचरण करता है। इस सम्वन्ध में सांख्य सिद्धान्तों की भूमिका में श्रीकृष्ण कहते हैं—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणाः गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३।२७, २८, २९, ३०)

"सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के तीन गुणों द्वारा किये हुये है तथापि अहंकार के कारण मनुष्य अपने को कर्त्ता मान लेता है। गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्व को जानने वाला व्यक्ति, सम्पूर्ण गुण तो गुणों में ही बर्तते हैं ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता है। वह जानता है कि सर्वत्र गुणों का आपस का खेल हो रहा है। प्रकृति के गुणों से वहके हुये पुरुप गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं। अतएव इन अवोध और मन्द पुरुपों को व्यर्थ ही (कर्म त्याग सिखाकर) विचलित नहीं करना चाहिये।" प्रकृति के गुणों की प्रवलता की चर्चा करते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं—

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३।३३,३४)

"सभी प्राणी अपने स्वभाव से परवश होकर कर्म करते हैं ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, फिर इनमें निग्रह (हठ) क्या करेगा? अतः इन्द्रिय और इन्द्रिय भोगों में स्थित राग-द्वेप के वश में नहीं होना चाहिये क्योंकि ये विघ्नकारक एवं क्लेशप्रद हैं।" प्रकृति द्वारा सृष्टि की समस्त क्रियाएं स्वाभाविक रूप से सम्पादित हो रही हैं तथा प्रकृति के साथ सम्वन्ध के कारण जीव परवश होकर क्रिया करता है।"

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ (गीता ८। १९)

प्रकृति के वश में भूत समुदाय लय होकर उत्पन्न होता है। ईश्वर अपनी त्रिगुणमयी माया को अंगीकार करके इस प्रकृतिवश एवं परतन्त्र भूतसमुदाय को बार-बार रचता है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ (गीता ९। ८)

श्री कृष्ण आगे कहते हैं—

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ (गीता १३। २९)

"जो मनुष्य समस्त कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए मानता है, वह अपने को कुछ न करने वाला देखता है और वही ठीक समझता है।" अतएव श्रीकृष्ण त्रिगुणातीत होने का उपदेश करते हैं—

"उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ (गीता १४। २३)

अर्थात् जो त्रिगुणातीत होकर साक्षी के सदृश स्थित हुआ, गुण ही गुणों में बर्तते हैं, (गुण अपना काम कर रहे हैं) ऐसा समझता हुआ स्थित रहता है, वह चलायमान नहीं होता है, उसमें विकार उत्पन्न नहीं होते।

श्रीकृष्ण प्रकृति (सत्, रजस्, तमस् गुणों से युक्त प्रकृति तथा स्वभाव) की प्रबलता एवं विवशता की चर्चा करते हुए अर्जुन को उपाय बताते हैं—

"यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धःस्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत् ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यति शाश्वतम् ॥

(गीता १८।५९,६०, ६१, ६२)

"हे अर्जुन, तू अहंकार के कारण कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। तेरा यह निश्चय ही मिथ्या है क्योंकि तेरा योद्धास्वभाव तुझे जबरदस्ती युद्ध में लगा

देगा। जिस कर्म को तू अहंकार एवं मोह के कारण नहीं करना चाहता, उसे भी स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ, पराधीन एवं विवश होकर, अवश्य करेगा। अपनी माया से शरीर रूपी यंत्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को भरमाता हुआ ईश्वर सब प्राणियों के भीतर ही स्थित है। अतएव तू उसी परमेश्वर की अनन्य शरण को प्राप्त हो जा। उसी के प्रसाद से तू परम शान्ति और परमधाम को प्राप्त होगा।"

श्रीकृष्ण ने कर्मफल-प्राप्ति के सम्बन्ध में भी विवशता को स्वीकार करते हुए निराशा से बचने के लिये एक उत्तम उपाय बताया—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २। ४७)

हे अर्जुन, कर्म करने मात्र में तेरा अधिकार है। फल मिलना, न मिलना तेरे अधिकार में नहीं है। अतः तू फल की आशा छोड़कर, समभाव का आश्रय लेकर ही सन्तुष्ट रह सकता है।" विवशता हमें सिखाती है कि मनुष्य की सीमा कर्त्तव्य-पालन तक ही है।

गीता-प्रणेता श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समस्त विवशताओं से जूझने का एक श्रेष्ठ उपाय बताया है—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ (गीता ६।५,६)

अर्थात् अपने द्वारा अपने-आप का उद्धार करना चाहिये तथा अपने को अधोगति में नहीं पहुँचाना चाहिये क्योंकि जीवात्मा स्वयं ही अपना मित्र अथवा शत्रु है। उसका वह स्वयं ही बन्धु है यदि उसने अपने को जीत लिया है तथा वह अपना शत्रु है यदि उसने अपने को (मन, इन्द्रिय आदि को) नहीं जीता है। श्रीकृष्ण का उपदेश है कि प्रकृति कितनी ही बलवती हो, मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसे जीतकर (त्रिगुणातीत होकर) आत्मोन्नति करे। वेदव्यास ने भी यही कहा है—

"आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयो ऽसावनुविन्दते॥"

प्राणी अपना गुरु स्वयं ही होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर अपना हित समझ सकता है। व्यास यह भी कहते हैं कि सुख और दुःख बिना माँगे हुए ही आ जाते हैं, अतएव इस विवशता में केवल सुख के लिये दैन्य क्यों करते हैं?

"अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखानि च तथा मन्ये, दैन्यमत्रातिरिच्यते॥" (व्यास)

विवशता और तज्जन्य भय एवं शोक की विकरालता मृत्यु के रूप में प्रकट होती है। यदि मनुष्य मृत्यु को अवश्यंभावी मानकर उसे सहज रूप से ग्रहण करना सीख ले तो उस पर अपनी मृत्यु निकट आने से अथवा किसी प्रियजन की मृत्यु होने से शोक-विह्वलता, आघातजन्य स्तब्धता, मूर्च्छा अथवा दयनीयता का प्रभाव न होगा। "किमिवावसादकरमात्मवताम्" (किरातार्जुनीय) अर्थात् मनस्वीजन के लिये कोई भी स्थिति दुःखप्रद अथवा चिन्ताप्रद नहीं होती है। गीता का स्थित-प्रज्ञ दर्शन भी ऐसी ही समचित्तता को प्रतिपादित करता है।

यह विडम्बना है कि शिक्षा में मनुष्य-निर्माण उपेक्षित है तथा केवल ज्ञान-संचय पर ही बल दिया जाता है। हमें जीवन भर अन्तिम यात्रा के लिए मानसिक तैयारी करनी चाहिये। शिक्षा का यह प्रमुख अंग होना चाहिये कि प्रारम्भ से ही विवशता एवं मृत्यु के साथ सामंजस्य स्थापित करना सिखाया जाये। मृत्यु की अनिवार्यता समझ कर उसे सहज रूप में स्वीकार करने की शिक्षा प्रारम्भ से ही दी जानी चाहिये। मृत्यु उत्तम गुरु है जो हमें स्वस्थ वैराग्य, उदारता और विनम्रता का पाठ सिखाता है। वही मनुष्य आनन्दपूर्वक जी सकता है जिसने आनन्दपूर्वक मरना सीख लिया है। जीवन काल में किसी उत्तम लक्ष्य, आदर्शों एवं मूल्यों के लिये जीने और मरने वाले पुरुषों के लिये मृत्यु एक महोत्सव हो जाता है।

विवेकशील व्यक्ति के लिये मृत्यु कोई समस्या नहीं है। विवेक के अभाव में मृत्यु भीषण प्रतीत होती है। पलायन किसी समस्या का समाधान नहीं है। मृत्यु मानव को मोह त्याग एवं अपरिग्रह का पाठ सिखाती है। हम सब यात्री हैं तथा सब धन यहीं अर्जित एवं एकत्रित किया जाता है और यहीं छूट जाता है, अतएव धन-सम्पत्ति के लिये शोषण करना तथा उस पर एकाधिकार मानना भूल ही है। यात्री-भाव रखने पर मनुष्य उदार रहकर सत्कर्म करते हुए प्रसन्न रह सकता है। मृत्यु ही हमें प्रेमपूर्वक रहना, उदारता, सेवा और परोपकार करना सिखाती है—"आदान हि विसर्गाय"—अर्थात् वस्तुओं का ग्रहण त्याग के लिये ही होना चाहिये। मोह करना मिथ्या है। मोह जीवन काल में चिन्ताप्रद तथा प्राणनिर्गमन में बाधक बन जाता है। जीवन काल में मृत्यु की तैयारी तो रखें किन्तु उसकी कामना न करके जीवन का सुख प्राप्त करें तथा मृत्यु समुपस्थित होने पर उससे भयभीत न हों तथा जीवन की कामना न करते हुए उसका स्वागत करें। यदि मनुष्य शोक का उपभोग न करके उपयोग करे तो शोक भी सन्मार्ग-प्रेरक हो सकता है। मृत्यु हमें यह भी सिखाती है कि किसी भी शुभ कार्य को कल के भरोसे पर न छोड़ें।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते थे कि मृत्यु हमें भयानक विजेता शत्रु की भाँति आती हुई दिखाई देती है क्योंकि हम उसका प्रिय अतिथि एवं मित्र की भाँति स्वागत करने की कला भूल गये हैं। नोवल पुरस्कार विजेता एलवर्ट श्वीतजर कहते थे—"किसी मनुष्य को मृत्यु से डरने की आवश्यकता नहीं है। उसे इस बात से अवश्य

डरना है कि कहीं वह अपनी सबसे बड़ी शक्ति को बिना जाने हुए न मर जाये—दूसरों के लिये अपना जीवन उत्सर्ग करने की प्रबल इच्छा शक्ति।"

सरदार पटेल ने न्यायालय में अपने वादी के पक्ष में बहस करते हुए अपनी पत्नी की मृत्यु का तार प्राप्त किया किन्तु उसे जेब में रखकर उत्तेजित हुए बिना ही, समभाव से, बहस को जारी रखा तथा उसके समाप्त होने पर ही उसकी चर्चा की। अनेक महापुरुषों के ऐसे उदाहरण हैं जहाँ उन्होंने हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग कर दिया। ऐसे प्रसंग मृत्यु-शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं।

केवल असभ्य जातियों में ही नहीं, सभ्य जातियों में भी मृत्यु एक विभीपिका के रूप में मानी जाती है तथा मृत्यु के उपरान्त ऐसे संस्कार किये जाते हैं जो इस अन्धविश्वासजन्य भय एवं मान्यता पर आधारित होते हैं कि मृतक की आत्मा का तुष्टीकरण होना चाहिये अन्यथा वह हानि कर सकती है। किसी सिद्ध पुरुष, योगी, ऋषि, मुनि, महात्मा एवं पैगम्बर ने मृत्यु के उपरान्त धरती पर लौटकर अपनी मृत्यु के अनन्तर निजी अनुभव नहीं सुनाये हैं। मृत्यु के उपरान्त जीवन की अपेक्षा वर्तमान जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण एवं यथार्थमय है। हमें ऐहिक जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण बनाना चाहिये जिससे धरती पर जीवनयापन स्वस्थ एवं सुखमय हो सके। जीवन और सुख की इच्छा मानव की मूल प्रवृत्ति है। जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित होने पर सहज ही भय, चिन्ता और तनाव का निराकरण होना सम्भव हो सकेगा।

जीवन में बाह्य परिस्थिति तथा मनुष्य का व्यवहार—दोनों ही अननुमेय एवं अनिश्चित हैं तथा केवल मृत्यु ही निश्चित है। किन्तु पग-पग पर अनिश्चय और विवशता होते हुए भी जीवन के सौन्दर्य को नकारा नहीं जा सकता। यद्यपि काल के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति का जीवन ऐसे ही नगण्य है जैसे कि उस महासागर की एक लहर जिसमें युगों से प्रतिक्षण अगणित ऊर्मि बन और मिट रही हैं, तथापि संसार एक चित्र-विचित्र मेला है जहाँ अगणित मनोरम दृश्य हैं, चित्ताकर्षक वस्तुएं हैं। इस मेले में से गुजरना मधुर एवं मनोहर है। आयु तो पल-पल क्षीण हो रही है किन्तु यह हम पर निर्भर है कि हम थोड़े से जीवन काल को हंसकर व्यतीत करें अथवा रोते-झींकते हुए। यथासम्भव पुरुपार्थ तथा प्रसन्न रहने का प्रयत्न तो मनुष्य को करना ही चाहिये। पारिवारिक स्नेहानुबन्ध, स्नेहमय वार्तालाप, हास-परिहास, मैत्री, प्रणय-सम्बन्ध, प्रेम-व्यवहार, प्राकृतिक सौन्दर्य, परिभ्रमण, पर्यटन, साहसिक कृत्य, सेवा-कार्य, साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म, योग, ध्यान आदि जीवन को रसमय बना सकते हैं यदि हम जीवन का स्वाद लेना जानते हैं। जीवन का उद्देश्य समझकर अपनी क्षमता एवं शक्तियों का उचित उपयोग करना तथा उसकी रसात्मकता में अवगाहन करना एक सुनहलापन और रोशनी ला सकता है। जीवन कला में निपुण व्यक्ति कारागार में बन्दी होकर, विकलांग एवं क्लान्त होकर भी, सौन्दर्य-माधुर्य की अनुभूति कर लेते हैं। प्रकृति में नदी-निर्झर, ताराजटित गगन,

हरे-भरे मैदान, हिमाच्छादित पर्वत, अनेक रूप धारण करने वाले मेघ आदि अत्यन्त रमणीय हैं। यदि मनुष्य हँसना-हँसाना, रूठे प्रियजन को मनाना, मुक्त कण्ठ से सराहना करना, कटुता का उत्तर मधुरता से देना, हँसते हुए कर्म करना, साहस और उत्साह से आगे बढ़ना सीख ले तथा आत्म-निरीक्षण द्वारा दोषदृष्टि की मनोवृत्ति को सुधार ले तो वह विवशता पर विजय पा सकता है। जीवन में शुभ कर्म करने पर भले ही हमारी निन्दात्मक आलोचना हो रही हो, हमें उससे शान्ति एवं संबल अवश्य प्राप्त होता है। हमारी कद्र न हो रही हो, उत्साह एवं रुचि से कर्त्तव्य-पालन करने पर हमें गहन आत्म-सन्तोष अवश्य मिलता है। शुभ प्रयत्न में विफलता होने पर हमें उसका स्वागत करके उससे भी सीखना चाहिये। विफलता मनुष्य को अनेक महत्वपूर्ण पाठ पढ़ाती है। संकट वेला में अपनी पीडा को पर-पीडा में विलीन कर देने पर घनीभूत पीडा की अनुभूति हो जाती है तथा पीडासागर के गहनतम तल का संस्पर्श हो जाता है जिससे चिन्तन में पैनापन तथा दृष्टि में सूक्ष्मता आ जाते हैं और आत्मपरिष्कार एवं परम सत्य का संदर्शन संभव हो जाता है। वेदना सीमातीत होने पर औषधि बन जाती है—

**इशरत कतरा है दरिया में फना हो जाना,**
**दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।**

प्रारम्भ से ही जीवन को एक उल्लासमय सुख बनाने की शिक्षा दी जानी चाहिये।

विवशता-दर्शन पूर्ण दर्शन नहीं है तथापि जीवन दर्शन का एक प्रमुख (किन्तु उपेक्षित) अंग अवश्य है। यह हमें भौतिक जगत् की अस्थिरता, नश्वरता, घटनाओं की अनिश्चितता के बावजूद विषमताओं में समभाव से जीना सिखाता है। विस्तृत एवं विशाल परिप्रेक्ष्य में विवशता को समझ लेने पर मनुष्य को अपने व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ लघु प्रतीत होने लगती हैं तथा वह घटना-प्रवाह में लुढकते रहकर क्षत-विक्षत होने के बजाय सरलता से बह सकता है। वह सहनशील एवं सक्रिय होकर साक्षीभाव के द्वारा निरन्तर सम रह सकता है। वह तनाव, भय, चिन्ता, घुटन, पीड़ा, अकेलापन आदि से बच सकता है तथा जीवन के विभिन्न स्तरों एवं अवस्थाओं में मुस्करा सकता है। विवशता गुरु, मित्र और बन्धु है जो जीवन में स्थायी सुख के मार्ग को प्रशस्त करती है। विवशता अभिशाप नहीं है, प्रच्छन्न वरदान है।

———

# ९
# जीवन-दर्शन

यद्यपि जीवन की परिभाषा को शब्दों की परिधि में बाँधना सम्भव नहीं है, हम उसे समझ अवश्य सकते हैं।

सूखे से स्थल में एक जलस्रोत धरती के अन्तस्तल से फूटकर ऊपर उछलता हुआ उसे आर्द्र कर देता है। उसके चारों ओर हरियाली छा जाती है, पक्षी आकर किलोल और कलरव करने लगते हैं तथा सारा परिवेश सौन्दर्यमयता से व्याप्त हो जाता है। यह स्रोत निरन्तर समान एवं निर्बाध गति से बहता रहता है और उसके गतिशील प्रवाह को राह के विशाल पाषाणखण्ड भी अवरुद्ध नहीं कर पाते। अपना अमृत लुटाते हुए चतुर्दिक् मनोरम सौन्दर्य-सृजन करते रहना उसका सहज स्वभाव है।

किसी भी साधारण से स्थान पर खिलता हुआ और अपने सौरभ की समृद्धि से चारों ओर वातावरण को सुरभित करता हुआ सुमन जीवन का पाठ सिखाता है। वह अन्तिम पंखुड़ी के झर जाने तक सहज भाव से मुस्कराते हुए सुहावना दृश्य समुपस्थित करता रहता है।

पुष्पों की सुकोमल सेज पर मौज से विश्राम करती हुई रंग-विरंगी छोटी सी तितली सहसा वहाँ से उड़कर उसी प्रसन्नता से एक शिलाखण्ड पर जा बैठती है। समरस, अनुद्विग्न और सर्वत्र सहज प्रसन्न!

अपने बुझने तक अँधकार से संघर्ष करती हुई दीपशिखा ऊर्ध्वगमन एवं प्रकाशदान करने में निरन्तर संलग्न रहकर कृतकृत्य होजाती है। ऊर्ध्वज्वलन एवं प्रकाशदान उसका सहज स्वभाव है। ऊर्ध्वगमन और प्रकाशदान परस्पर सम्बद्ध हैं।

खिलखिलाते हुए, मुस्कराते हुए, चतुर्दिक् जीवन के सौन्दर्य का प्रसार करना; उसके लिए उल्लासपूर्वक समर्पित होना; साहस एवं उत्साह से विषम परिस्थितियों एवं विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़ते ही रहना; तिमिर को विदीर्ण करते हुए ऊपर उठते ही रहना—यही जीवन का लक्षण है। प्रारम्भ, पथ और अन्त—तीनों अवस्थाओं में निरन्तर सोल्लासता।

हम कोरे दैहिक अस्तित्व को जीवन समझ बैठे हैं और केवल धन-सम्पत्ति बटोरने तथा छल-कपट एवं शोषण की मृगमरीचिका में फंसकर क्षुद्रस्वार्थ पूर्ति के लिए प्रयत्नरत रहने में जीवन की कृतकृत्यता समझते हैं। मात्र देहपोषण, भोग और शयन में तो पशु जीवन की इतिश्री होती है।

जल के स्रोत की भाँति सहर्ष स्वधर्म पालन (स्वकर्म सम्पादन) में निरन्तर गतिशील रहना, खिले फूल की तरह स्वयं प्रसन्न रहकर चतुर्दिक् प्रसन्नता का प्रसार करना और तितली की सी मस्ती में मस्त रहकर विषम परिस्थिति में भी मुस्कराना, दीपार्चि के सदृश्य ऊर्ध्वारोहण करते हुए प्रकाशदान करना जीवन है। यथार्थ को स्वीकार करना, जीवन की गरिमा एवं महिमा को समझ कर जीवन से प्यार करना, अपनी शक्तियों को रचनात्मक दिशा में लगाकर भीतर आत्मसंतुष्ट रहना जीवन की कृतार्थता का लक्षण है।

प्रकृति हमें पग-पग पर जीवन का सन्देश दे रही है। जीवन तो भीतर है किन्तु हम उसे बाहर वस्तुओं के तुच्छ संग्रह एवं संचय में खोजते हुए उसका हनन एवं उच्छेद कर देते हैं। जीवन-धन सर्वोपरि है, परमोपास्य है, परम साध्य है। जीवन सत्यं शिवं सुन्दरम् से भरपूर है। वह अति दूर है, अति समीप भी। दूरस्थं चान्तिके च तत्।

---

## १०

# संघर्ष और शान्ति

जीवन में मनुष्य को पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है। उसे नित्य प्रति नयी तथा विविध प्रकार की समस्याओं से उलझना पड़ता है। जीवन आदि से अन्त तक संघर्षों की अविच्छिन्न शृङ्खला है। समस्याएँ मनुष्य के जन्म के साथ ही जन्म लेती हैं तथा सारे जीवन उसे घेरे रखती हैं किन्तु जीवन की वाटिका में समस्याओं के पादप पर ही शान्ति के सुमन खिलते हैं। समस्याओं से पराङ्मुख होना अथवा उदासीन होना भीरुता है। समस्याओं से पलायन करना उन्हें विषम बना देता है। उनसे त्राण का एक मात्र उपाय उनके समाधान की दिशा में संघर्षरत होना है। समस्याएँ भीरु व्यक्ति को कुचल कर उपसहनीय बना देती हैं किन्तु संघर्षशील व्यक्ति उन पर विजय पाकर गौरवान्वित हो जाता है। संघर्ष से जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। अतएव यह उक्ति है कि संघर्ष ही जीवन है।

केवल मनुष्य को ही नहीं, पशु-पक्षीगण को भी अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड़ता है तथा संघर्षशील प्राणी ही अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाते हैं। महान् वैज्ञानिक डार्विन ने इस प्राकृतिक नियम को सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित करते हुये कहा कि समस्त जीवधारी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये संघर्ष करते हैं तथा केवल सशक्त प्राणी ही अनुकूलनशीलता आदि द्वारा प्रकृति की विभीषिकाओं से संघर्ष करके जीवित रह पाते हैं। अनेक प्रकार पशुजगत् के समान न होते हुये भी मनुष्य उससे भिन्न है तथा बुद्धिप्रधान होने के कारण मानव ने संघर्ष द्वारा सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान आदि की संरचना की। मनुष्य को केवल अपने दैहिक अस्तित्व के लिये ही नहीं, बल्कि अपनी सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, वैभव तथा अपनी मानसिक शान्ति की रक्षा के लिये भी संघर्ष करना पड़ता है। विभिन्न क्षेत्रों में लक्ष्यप्राप्ति के लिये संघर्ष करके ही मनुष्य विशिष्टता एवं महानता प्राप्त करते हैं। संघर्ष प्रगतिपथ को प्रशस्त करता है; संघर्ष जीवन का प्रमुख लक्षण है। आलस्य, भीरुता, प्रमाद तथा उदासीनता संघर्षमार्ग को अवरुद्ध करके मनुष्य को विनाश के

कगार पर खड़ा कर देते हैं। अपने दायित्वों के प्रति जागरूकता मनुष्य को संघर्ष के लिये प्रेरित करती है। संघर्ष विकास की प्रक्रिया को तीव्र कर देता है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ने के लिये संघर्ष करना मानो जीवन के उद्देश्य को पूरा करना है, जीवन में आकर्षण और सौन्दर्य समुत्पन्न करना है।

बौद्धिक विकास के अभाव में पशुजगत् को मानसिक शान्ति की अपेक्षा नहीं होती है किन्तु बुद्धिजीवी होने के कारण मनुष्य के लिये शान्ति अत्यन्त आवश्यक होती है। अतः वह मानसिक शान्ति को प्राप्ति के लिये सर्वस्व अर्पण कर देना चाहता है। मानसिक शान्ति सुख-दुःख की अनुभूति की अपेक्षा अधिक गहन होती है। सुख-दुःख साधारण मनोभाव एवं अस्थायी मानसिक अवस्था हैं। न सदा सुख ही रहता है, न दुःख ही। शान्ति धारण करके ही मनुष्य संघर्ष कर सकता है तथा अशान्त होकर मनुष्य संघर्ष करने में नितान्त अक्षम हो जाता है। इस प्रकार शान्ति संघर्ष का साधन भी है, साध्य तो वह है ही। शान्ति संघर्ष से बचने में नहीं, संघर्ष करने में ही निहित होती है। शान्ति साधना द्वारा प्राप्त निश्चल मानसिक अवस्था होती है। संघर्ष करने में शान्ति खो बैठना अविवेक ही है। अविवेकी पुरुष संघर्ष करने में मानसिक शान्ति खो देते हैं। वस्तुतः जीवन में संघर्ष और शान्ति दोन का महत्वपूर्ण स्थान है तथा दोनों का समन्वय प्रगति के लिये आवश्यक है। प्रश्न है कि संघर्ष करते समय तथा उसके सफल अथवा विफल होने पर शान्ति को अविचल किस प्रकार रखा जा सकता है ?

इस परिप्रेक्ष्य में गीता एक अनूठा संघर्षशास्त्र है। गीता में श्रीकृष्ण संघर्ष की आवश्यकता एवं इसके महत्व तथा संघर्षमय कर्म की विशद व्याख्या करते हैं। कर्त्तव्य भावना से ओत-प्रोत होकर निष्काम भाव से अन्तर्प्रेरणासम्मत कर्म करना कर्मयोग है। जिस कर्म के करने की मांग भीतर अन्तःकरण में अनुभूत होती है तथा जिसके करने से, सुख-दुःख से परे, अन्तःकरण को गहन शान्ति का अनुभव होता है, वही स्वधर्म एवं पुण्यकर्म है तथा उसका सम्पादन व्यक्ति एवं लोक के लिये हितकर है। संघर्षरत रहते हुये अविचल मानसिक शान्ति धारण करने वाला व्यक्ति समुद्र की भाँति धीर-गम्भीर होता है। अनेक कामनाएँ संयमी मनुष्य के मन में बिना विकार एवं उत्तेजना उत्पन्न किये हुये उसी प्रकार समा जाती हैं जिस प्रकार अगणित नदियों का जल समुद्र में प्रविष्ट होकर भी उसे चलायमान एवं विक्षुब्ध नहीं कर सकता है। संयमी व्यक्ति प्रचुर भोग-पदार्थ प्राप्त करके भी समुद्र की भांति मर्यादा नहीं छोड़ता है। स्वप्निल कामनाओं में फंसा हुआ, कुण्ठित इच्छाओं से ग्रस्त होकर भटकने वाला व्यक्ति कभी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है। श्रीकृष्ण इसी आशय को स्पष्ट करते हुये कहते हैं—

**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।**
**तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ गीता २।७०।**

परिस्थितियाँ तो मनुष्य के नियन्त्रण से वाहर होती हैं किन्तु कर्म में मनुष्य

स्वतन्त्र होता है। विषम परिस्थिति समुपस्थित होने पर अकर्मण्य एवं निष्क्रिय होकर बैठने से मनुष्य का अधःपतन हो जाता है। मनुष्य योनि कर्मयोनि है। विषम परिस्थिति का उत्तर संघर्षपूर्ण कर्म है। प्रार्थना-पूजा का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु वह भी पुरुषार्थ का विकल्प नहीं है। अर्जुन के रणक्षेत्र में उतरने पर श्रीकृष्ण ने उसे युद्ध करने का आदेश दिया तथा युद्ध छोड़कर जप-तप में संलग्न होने का नहीं। श्री कृष्ण ने अर्जुन को ईश्वर का स्मरण करते हुये अर्थात् आत्मसमर्पणभाव से संग्राम करने का आदेश दिया—मामनुस्मर युध्य च। प्रारब्ध के भरोसे अथवा ईश्वर के नाम पर कर्म परित्याग करना अविवेक ही है। कर्म न करना उपसहनीय होकर पतनोन्मुख होना है, क्लेश और अशान्ति का वरण करना है। फल ईश्वर पर छोड़ देना चाहिये तथा उसे ईश्वर इच्छा मान कर समभाव से स्वीकार कर लेना चाहिये। मनुष्य का अधिकार कर्म करने तक सीमित है, फल उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं है। फलेच्छारहित कर्म करना सिद्धान्त-सिद्ध कर्त्तव्य है। फल के प्रति सकाम होना, चिन्ता करना, मन को उद्विग्न एवं अशान्त करना है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ;**
**मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोस्त्वकर्मणि ॥ गीता २।४७।**

अर्थात् तेरा कर्म करने मात्र में अधिकार हो, फल प्राप्ति में कभी न हो। तू कर्म के फल की वासना भी न रख, फल की वासना से कर्म न कर, फल की इच्छा छोड़कर कर्म कर। तेरी कर्म न करने में, कर्म से पलायन करने में, प्रीति न हो।

महात्मा गांधी ने प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति का अन्तर स्पष्ट करते हुए जर्मन विद्वान् मैक्समूलर की उस उक्ति उद्धरण दिया था जिसमें उन्होंने कहा है कि भारत ने सदा कर्त्तव्य पर तथा पश्चिमी देशों ने अधिकार पर बल दिया है। पश्चिमी क्षेत्रों में अधिकार प्राप्ति के नाम पर अनेक बार रक्त क्रान्ति हुई हैं। व्यक्ति एवं समाज की प्रगति तथा शान्ति अधिकार के लिये नहीं बल्कि कर्त्तव्य के लिये कर्म करने में निहित होती है। मनुष्य का धर्म है कि वह थककर या भयभीत होकर बैठ न जाये तथा साहस बटोर कर समस्या का डटकर सामना करे किन्तु कामनारहित होकर और फल की इच्छा छोड़कर।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सकाम कर्म करने पर मनुष्य चिन्ता एवं भय से ग्रस्त हो जाता है। चाह से चिन्ता और भय उत्पन्न होते हैं। लोकोक्ति है—चाह गयी चिन्ता गयी, मनुवा बेपरवाह। कामना और उपलब्धि का फासला मनुष्य के जीवन में निराशा का विष घोल देता है। कामना मन को वासनामय तथा कर्म को दूषित कर देती है। कामनाजन्य स्वार्थ से प्रेरित होने पर मनुष्य को व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा घेर लेती है तथा वह कामना-प्रसूत कल्पना के जाल में फंसकर मानसिक मृगमरीचिका में भटकता ही रहता है। धन, सम्पत्ति, सत्ता आदि की लोलुपता होने कारण अनेक महान् भौतिक उपलब्धि होने पर भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।

प्राप्त वस्तु को सदैव दृढ़तः ग्रहण किये रहने की इच्छा उसे चिन्तित और भयभीत रखती है तथा उसकी प्रत्येक उपलब्धि उसकी लोलुपता को उत्तेजित करती है। प्रत्येक लाभ लोभ को विवर्द्धित कर देता है। बात भी सही है—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'। अहंकारजनित उद्दण्डता और स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षा मनुष्य के रक्तचाप को उच्चकर देते हैं तथा अशान्ति को बढ़ा देते हैं। उद्दाम महत्वाकांक्षा मनुष्य को अनैतिकता की ओर प्रवृत्त कर देती है। कामना एक ओर सफल होकर प्राप्त वस्तु को पकड़े रहने की चिन्ता और अप्राप्त वस्तु के लिये तृष्णा को जन्म देती है, दूसरी ओर विफल होने पर नैराश्य और आत्मग्लानि उत्पन्न करती है जिससे मनुष्य अपनी ही दृष्टि में अपमानित होकर गिर जाता है और घोर मानसिक अशान्ति से ग्रस्त हो जाता है। व्यक्तिगत कामना मनुष्य को संकीर्ण बना देती है तथा निष्काम भाव उदारता प्रदान करता है।

व्यक्तिगत कामना से संप्रेरित कर्म कभी महान् नहीं होता तथा उसका प्रभाव कभी सुदूरगामी एवं चरित्रोन्नायक नहीं होती। नैपोलियन और हिटलर अपनी व्यक्तिगत विशिष्ट उपलब्धियों को प्राप्त करके भी कदापि महान् नहीं बल्कि आततायी ही कहलायेंगे। व्यक्तिगत कामना से प्रेरित महत्तम कर्म भी जन समाज के लिये कल्याणकारक नहीं हो सकता, अपितु निष्काम कर्म व्यक्ति एवं समाज के लिये कल्याणकारी होता है। नितान्त लोकोपकारक कर्म भी निष्काम भाव होने पर ही मानसिक शान्ति दे सकता है। ममत्व छोड़कर, चिन्तारहित एवं भयशून्य होकर किया हुआ, साधारण सा निष्काम कर्म, स्वार्थमय चिन्तासहित एवं भययुक्त होकर किये हुये सकाम महान् कर्म की अपेक्षा निश्चय ही अधिक शान्तिप्रद एवं लोककल्याणकर होता है।

कर्त्तव्यभाव से प्रेरित होकर, स्वधर्म मानकर, सहज भाव से निष्काम कर्म करना सब प्रकार से हितकर होता है। पवित्र अन्तःकरण में ईश्वर की प्रेरणा शब्दायमान होती रहती है तथा पवित्र व्यक्ति के लिये उसका अनुसरण ही स्वधर्म पालन हो जाता है। मनुष्य की कामना सदैव सदोष होती है। अपनी कामना को ईश्वरेच्छा में विलीन करना ही उसका उदात्तीकरण है।

निष्काम होने पर मनुष्य जय-पराजय के प्रति सम हो जाता है तथा मान-अपमान के भाव से ऊपर उठ जाता है। जीत और हार में समबुद्धि होने पर ही मनुष्य अविचलित रूप से शान्ति की शीतल अवस्था में रह सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

**सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ २।३८ (गीता)**

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर ही मनुष्य सन्तुलित रहकर दृढ़तापूर्वक कर्म कर सकता है तथा समभाव में स्थित होकर संघर्ष करने पर वह कभी मिथ्याभिमान तथा क्लेश को प्राप्त नहीं होता है। पराजय होने

पर आत्मसंयम रखना भी एक विजय है, तथा विजय होने पर आत्मसंयम रखना दोहरी विजय है। समत्वभाव होने पर ही मनुष्य सहज भाव से संघर्ष कर सकता है। समत्वं योगमुच्यते—समत्व-भाव में स्थित रहना योग ही है।

निष्काम भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति प्राप्त उपलब्धि में सन्तोष अनुभव करता है और अप्राप्त के लिये सहज भाव से संघर्ष अथवा पुरुषार्थ करते हुये सदैव आत्मतृप्त रहता है। वह कर्म करते समय तथा फल प्राप्ति के समय धीर-गंभीर समुद्र की भांति अविचल एवं प्रशान्त बना रहता है। कर्म करने में दक्ष होना, सम-भाव में स्थित होकर कर्म करना तथा प्रत्येक अवस्था में शान्त रहना कर्म-कुशलता है। इसे ही 'कर्म में कुशलता ही योग है'— योगः कर्मसु कौशलम्—कहा गया है। निष्काम भाव से कर्म करना मात्र कर्त्तव्य ही नहीं, बल्कि ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने वाला कर्मयोग हो जाता है तथा शान्ति देता है। शान्ति निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करने स्वतः से प्राप्त होती है।

---

११

# गीता में समत्व दर्शन

## (समता से स्वास्थ्य और शान्ति)

सभी विचारक एवं वैज्ञानिक एकमत होकर स्वीकार करते हैं कि मस्तिष्क ही मानवदेह पर नियन्त्रण करता है। मनुष्य की मानसिक स्थिति पर ही शारीरिक अवस्था निर्भर होती है। स्वस्थ एवं सशक्त मन रुग्ण देह को भी अचिर ही स्वस्थ एवं सशक्त बना सकता है। स्वस्थ मन स्वास्थ्य एवं शान्ति का प्रदाता होता है। स्वस्थ मन का रहस्य होता है—समत्व।

मानसिक विकास की उच्चावस्था प्राप्त होने पर समत्व की उपलब्धि होती है। मन के निर्मल होने पर वह सहज ही समभाव में संस्थित हो जाता है। निश्चय ही समभाव के उदित होने पर मनुष्य देहस्तर पर शीत-उष्ण तथा मानसिक स्तर पर सुख-दुःख, मान-अपमान इत्यादि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। मन में समता आने पर मनुष्य द्वन्द्वातीत हो जाता है तथा द्वन्द्वातीत होने पर समता सिद्ध हो जाती है।

भगवद् गीता आदि से अन्त तक अनेक स्थलों पर विविध प्रकार से समत्व का प्रतिपादन करती है। समत्व गीता का प्रमुख सिद्धान्त है। प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं—शीत और उष्ण तथा सुख और दुःख देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य है। अतः तितिक्षा अर्थात् उनको सहन करना ही उचित है। दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये व्याकुल नही करते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २।१४॥ (गीता)
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २।१५॥ (गीता)

प्रकृति के विधान के अनुसार ऋतु परिवर्तन होता है तथा शीतकाल, उष्णकाल

और वर्षाकाल अपने-अपने समय पर जीव मात्र के लाभ के लिये आते हैं। यदि हम सहनशक्ति का विकास कर लें तो शीतकाल में भी अल्प वस्त्र पहिन सकते है और शीतकाल स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार सहनशक्ति का विकास करने पर हमारे लिये उष्णकाल भी स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हो सकता है। उष्णकाल में शरीर में संचित विषैले तत्व के स्वेद के द्वारा बाहर निकलने से शारीरिक शुद्धि होती है। यह खेदजनक है कि विलासितापरक आधुनिक सभ्यता में विद्युत् पंखों, शीतलकों (कूलर), वातानुकूलित स्थानों, शीतल पेयों आदि के प्रचुर प्रयोग के द्वारा शरीर को निदाघ से इतना बचाया जाता है कि विजातीय विषैला तत्व स्वेद बन कर निकलने नहीं पाता है। श्रमिक आतप में भी श्रम करके पसीना बहाने के कारण स्वस्थ रहते हैं किन्तु कृत्रिम शीतलता में रहने वाले मनुष्य रोगग्रस्त हो जाते हैं। स्वेद के द्वारा शरीर से विषैला तत्व निकलने पर रक्त संचालन में गति उत्पन्न हो जाती हैं और रक्त शुद्धि की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है जिससे हृदय स्वस्थ बना रहता है। शीत और उष्ण का सहर्ष सहन करना ऐसा शारीरिक तप हैं जिससे न केवल शरीर को स्वस्थता प्राप्त होती है बल्कि मनुष्य की इच्छा शक्ति भी बढ़ती है। शरीर के स्तर पर अति का वर्जन करते हुए शीत और उष्ण का सहन समता के अभ्यास में अत्यन्त सहायक होता है।

समता की प्राप्ति के लिये शरीरस्तर पर शीत और उष्ण सहन करने के साथ ही मानसिक स्तर पर सुख-दुःख का सहन करना भी परम आवश्यक होता है। सुख और दुःख को सहर्ष स्वीकार करना मानसिक तप है और उनके सहने का अभ्यास करने से मनोबल में वृद्धि होती है। सुख और दुःख की तीव्रता मान और अपमान में अनुभूत होती है। मनुष्य केवल अपने कर्म का फल ही नहीं चाहता है बल्कि उसके लिये दूसरों से प्रशंसा और मान भी चाहता है। मान प्राप्त होने पर मानो उसके कर्म के औचित्य की पुष्टि हो जाती है। मनुष्य मान की इच्छा और अपमान के भय से मुक्त होकर संतुलित एवं सम रह सकता है। समता के उपासक को मान-अपमान से ऊपर अवश्य उठना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते है कि सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में सम एवं शान्त रहने वाला जितेन्द्रिय व्यक्ति योगी होता है। मनुष्य को सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान से ऊपर उठ कर उन पर विजय प्राप्त करना चाहिये।

**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥६।७॥ (गीता)**

शीत और उष्ण का अनुभव कराने वाले शीतकाल तथा उष्णकाल होते हैं किन्तु यह हमारे अभ्यास पर निर्भर है कि हम कितना शीत या उष्ण मानते हैं। इसी प्रकार सुख और दुःख देने वाली परिस्थितियां भी होती हैं किन्तु यह हमारे अभ्यास पर निर्भर है कि हम कितना सुख और दुःख मानते हैं। सुख और दुःख

हमारे मानने से सम्बन्धित हैं तथा कहीं बाहर से नहीं आते। हमारे मानने के अनुसार ही सुख और दुःख कम या अधिक होते हैं। अपने को सुखी या दुःखी मानना मन के अभ्यास पर निर्भर होता है। प्रत्येक परिस्थिति में भीतर प्रसन्न, सुखी या मस्त रहने का अभ्यास किया जा सकता है। दुर्निग्रह मन को अभ्यास द्वारा तथा वैराग्य भाव (अनासक्ति) जगाकर वश में किया जा सकता है। वास्तव में मन को निर्मल रखकर कोई स्वस्थ दिशा देना उसे वश में करना है। समता की ओर बढ़ने के लिये मन को वश में करना नितान्त आवश्यक होता है।

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।**
**अभ्यासेन कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६।३५ (गीता)**

श्रीकृष्ण विविध प्रकार से शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में सम होने का उपदेश करते हैं क्योंकि कोई मनुष्य उनसे बाधित होने पर किसी भी उत्तम दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता है। ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनो के अनुसार समता प्राप्तव्य होती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर संघर्ष करने पर मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता है।

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभलाभौ जयाजयौ।**
**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २।३८॥ (गीता)**

दुःख में उद्विग्न न होना और सुख में निःस्पृह रहना तथा राग, भय और क्रोध से विमुक्त होना स्थितप्रज्ञता का लक्षण है।

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।**
**वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २।५६॥ (गीता)**

प्रभुभक्त के लक्षणों की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवद्भक्त सुखदुःखादि से ऊपर उठ जाता है। भक्त सब प्राणियों के प्रति द्वेषरहित, मैत्रीपूर्ण, दयाशील तथा ममतारहित एवं अहंकाररहित होता है, सुख-दुःख में सम और क्षमावान् होता है। भक्त शत्रु और मित्र के प्रति तथा मान-अपमान एवं शीतोष्ण, सुखदुःखादि द्वन्द्वों में सम होता है और अनासक्त रहता है।

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १२।१३॥ (गीता)**

**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १२॥१८ (गीता)**
**तुल्य निन्दा स्तुतिर्मौनी। १२।१९।**

गुणातीत पुरुष के लक्षण एवं आचरण के वर्णन में भी समता का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि गुणातीत व्यक्ति आत्मभाव संस्थित, दुःख-सुख में सम, मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण के प्रति सम, धैर्यवान्, प्रिय-अप्रिय तथा निन्दा-स्तुति में

सम, मान-अपमान में सम, मित्र और शत्रु के प्रति भी सम और कर्तृत्व के अभिमान से रहित होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ १४।२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ १४।२५॥ (गीता)

भगवत् प्राप्ति होने वाले पुरुषों के लक्षणों का वर्णन करते हुए भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे मान और मोह से विमुक्त, आसक्तिरहित, अध्यात्मलीन, निष्काम और सुखदुःखादि द्वन्द्वों से ऊपर उठे हुए होते हैं तथा परम पद को प्राप्त कर लेते हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १५।५॥
(गीता)

उत्तम पुरुष प्रत्येक अवस्था में सम रहता है क्योंकि सम रह कर ही मनुष्य कर्त्तव्य पालन कर सकता है। स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी व्यक्ति आसक्ति छोड़कर तथा सफलता और विफलता में सम रहकर कर्म करता है। स्थितप्रज्ञता समत्व ही है तथा समत्व को ही योग कहते हैं।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २।४८॥ (गीता)

अनासक्त होकर निष्काम भाव से कर्म करना समत्व प्राप्ति में सहायक होता है क्योंकि इच्छाजनित आशा और कर्म द्वारा प्राप्त उपलब्धि के बीच का बड़ा अन्तराल ही प्रायः निराशा एवं दुःख का कारण होता है। इच्छा से मुक्त होने पर कर्म करने से मनुष्य निराशा से मुक्त रहता है। इच्छा (काम) एक ओर पूर्ति होने पर अन्य इच्छाओं को जन्म देती है और दूसरी ओर अपूर्ति होने पर निराशा एवं क्रोध को उत्पन्न करती है।

निष्काम कर्मयोगी के लक्षणों की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह यथालाभसंतुष्ट, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से अतीत अर्थात् सम तथा ईर्ष्यारहित होता है और सफलता अथवा विफलता में सम रहता है। अतः वह कर्म करके भी नहीं बंधता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥४।२२॥ (गीता)

समत्व भाव में संस्थित होना अथवा समदर्शी होना ही पाण्डित्य है। ज्ञानीजन विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण और गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव रखते हैं।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ५।१८॥ (गीता)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगी सुखदुःखादिक द्वन्द्वों से अतीत अर्थात् सम तथा जितेन्द्रिय होता है जो परमात्मा में समाहित होकर विकाररहित रहता है, ज्ञान-विज्ञान के विषय में तृप्त और अचंचल होता है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण के प्रति सम रहता है। वह मित्र और शत्रु, उदासीन, मध्यम और द्वेषी, साधु और असाधु के प्रति सम रहता है तथा अति श्रेष्ठ होता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ६।८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ६।९॥ (गीता)

समभाव में स्थित व्यक्ति योगी होता है तथा वह अपने को समस्त प्राणियों में तथा समस्त प्राणियों को अपने में देखता है। वह सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करके परमव्यापक एवं परमसमर्थ हो जाता है। वह सब प्राणियों में सादृश्यता से सम देखता है और सुख-दुःख में सम रहता है। वह परम श्रेष्ठ होता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६।२९॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ६।३२॥ (गीता)

परमात्मा स्वयं समस्त प्राणियों में समभाव से स्थित हैं और उनका न कोई प्रिय है और न अप्रिय।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥ ९।२९॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में अनश्वर परमेश्वर को समभाव से देखता है, वही ठीक देखता है क्योंकि वह सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा स्वयं को नष्ट नहीं करता है, अपने शरीर नाश को आत्मा का नाश नहीं मानता है तथा परम गति को प्राप्त होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ १३।२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ १३।२८॥ (गीता)

वास्तव में, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से संस्थित हुआ सदैव प्रसन्नचित्त रहने वाला पुरुष न शोक करता है और न आकांक्षा ही। वह सब प्राणियों में समभाव रखते हुए पराभक्ति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ १८।५४॥ (गीता)

समत्व प्राप्त होने पर ही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि से विचलित हो जाता है, वह कभी शान्त नहीं रह सकता है तथा अपनी अशान्ति के कारण ठीक प्रकार से कर्त्तव्यपालन भी नहीं कर सकता है। निष्कामबुद्धि होने पर अनासक्त तथा समभावस्थित रह कर ही मनुष्य कर्त्तव्यपथ में दृढ़ता से डट सकता है, संघर्ष कर सकता है तथा शान्ति को प्राप्त करके उसे सुरक्षित भी रख सकता है।

समभाव में स्थित होने पर ही मनुष्य न सुख पाकर बौराता है, न दुःख पाकर बौखलाता है। समभावस्थित पुरुष सुख और दुःख से ऊपर उठकर ऐसी गहन शान्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है जिसमें वह अबाध रूप से सदैव प्रसन्नचित रह सकता है। यही प्रसाद गुण अथवा आत्यन्तिक सुख है जो संलब्ध होने पर कभी क्षीण नहीं होता तथा जिसके प्राप्त होने पर समस्त दुःखों का अभाव हो जाता है, बुद्धि सुस्थिर हो जाती है और स्थित प्रज्ञता की उपलब्धि हो जाती है।

**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**
**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ २।६५॥ (गीता)**

प्रशान्त पुरुष की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही उसमें समा जाते हैं, वैसे ही स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ) पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही उसमें समा जाते हैं। ऐसा स्थितप्रज्ञ व्यक्ति परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है, न कि भोगों की इच्छा में लिप्त व्यक्ति। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर, ममतारहित और अहंकार-रहित एवं स्पृहारहित रहता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।

**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।**
**तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ २।७०॥**
**(गीता)**

**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ २।७१॥ (गीता)**

मनुष्य दुःख-सुख से ऊपर उठकर, समत्व में स्थित होकर तथा परमेश्वर के साथ संयुक्त रहकर, परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इन्द्रियातीत एवं आत्यन्तिक सुख (परम शान्ति एवं अनन्त आनन्द) की अवस्था को प्राप्त होने पर मनुष्य कभी विचलित नहीं होता है। संसार में मनुष्य के लिये इससे बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं होता। मानसिक धरातल की इस उच्चावस्था को प्राप्त करने पर मनुष्य घोर दुःख में भी विचलित नहीं होता है।

**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।**
**शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ ६।१५॥ (गीता)**

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६।२१॥ (गीता)
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६।२२॥ (गीता)

वास्तव में मनुष्य को मानसिक तृप्ति होने पर ही शान्ति प्राप्त होती है। तृप्ति मात्र भोग द्वारा नहीं होती, विवेकसहित अनासक्तिभाव के अभ्यास से एवं त्यागभाव से आत्मसन्तुष्टि के रूप में प्राप्त होती है। मानसिक तृप्ति होने पर कोई अभाव नहीं खटकता और मन प्रशान्त हो जाता है। अनासक्त होकर निष्काम कर्म करने वाला, समभाव स्थित व्यक्ति कर्मफल के त्याग से शान्ति प्राप्त कर लेता है।

त्यागात् शान्तिः ॥ १२।१२॥ (गीता)

गीता का उपसंहार करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब प्रकार से परमेश्वर की शरण में जाकर उसकी कृपा से ही परम शान्ति और अविचल अवस्था की प्राप्ति होती है। परमात्मा की शरणागति शान्ति प्राप्त करने के लिये अमोघ उपाय है। शरणागति प्राप्त होने पर अध्यात्म पथ प्रशस्त हो जाता है, समत्व का उदय हो जाता है, साधना सफल हो जाती है और परमशान्ति सुलभ हो जाती है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८।६२॥ (गीता)

आज के युग में भौतिक प्रगति तो हो रही है, किन्तु शान्ति विलुप्त होती जा रही है। शान्ति के अभाव में आधुनिक सभ्यता एक अभिशाप प्रतीत होने लगी है। गीता में प्रतिपादित समत्व दर्शन वास्तव में शान्ति दर्शन ही है।

× × × ×

उदेति सविता ताम्रः ताम्र एव अस्तमेति च ।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

सूर्य उदय होते समय ताम्रवर्ण होता है, अस्त होते हुए भी ताम्रवर्ण ही रहता है। सुख और दुःख दोनों में ही महापुरुष एक से (सम) रहते हैं।

---

१२

# विचार और आचार

पशु-जगत् की तुलना में मनुष्य की विशेषता उसके विचार और आचार हैं। विचार और आचार एक दूसरे के पूरक हैं तथा परस्पर सम्वद्ध एवं आबद्ध हैं। इन में विचार प्रमुख है तथा आचार गौण। यदि किसी आचार के पीछे उसे संवल एवं स्थैर्य देने वाला कोई संप्रेरक विचार नहीं है तो वह उत्तम होकर भी प्रभावहीन ही रहता है। विचार की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का प्रभाव आचार पर अवश्य ही पड़ता है। आचार की उत्तमता अथवा अधमता का निर्णय केवल उसके बाह्य स्वरूप से ही नहीं बल्कि उसके पृष्ठगत विचार से होता है।

मनुष्य में ऊँचा उठने की अन्तर्प्रेरणा बहुत गहन होती है तथा मनुष्य की आत्यन्तिक तृप्ति भी उसकी पूर्ति पर आधारित होती है। स्वप्न में, ऊपर उठकर आकाश में उड़ना कदाचित् इसी का द्योतक है। मनुष्य को वायुयान द्वारा ऊँचे उड़कर स्वयं गगनविहार करना तथा पक्षियों को ऊँचे उड़कर विशाल व्योम में मंडराते हुये देखना उल्लास प्रदान करता है। पक्षीगण भी ऊंचे, बहुत ऊंचे, उड़कर एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं। मनुष्य ने सदैव दीपर्चि से जो ऊर्ध्वगमन में सचेष्ट रहकर प्रकाश-दान करती रहती है, प्रेरणा प्राप्त की है। ऊर्ध्वगामी व्यक्ति ही दूसरों को प्रकाश दे सकता है। क्षुद्र स्वार्थ से प्रेरित होकर भोगैश्वर्य सामग्री का संचय करना तथा पद, सत्ता और ख्याति प्राप्त करना, भौतिक उन्नति अथवा प्रगति हो सकती है किन्तु उससे मनुष्य की न तृप्ति होती हैं, न उसका कल्याण ही होता है। तुच्छ स्वार्थ से हटकर वैचारिक स्तर पर ऊंचा उठने में ही मानव का कल्याण निहित होता है।

इस संसार में जो कुछ भी मानव-जगत् की हलचल है, उसके पृष्ठ में एक सूक्ष्म विचार-जगत् है। कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसार में समस्त क्रिया-कलाप का मूलसूत्र विचार ही है। व्यक्ति और समाज के कर्म का बीज विचार में ही निहित है। विचार जीवन-ज्योति का प्रतीक होता है तथा मनुष्य की आन्तरिक ऊर्जा को जगा देने में सक्षम होता है। विचार की महिमा अकथ्य है।

व्यक्ति, कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसार के अभ्युदय, सुख-शान्ति और कल्याण के लिये विचार का परिष्कार, परिमार्जन एवं विकास होना प्रथम आवश्यकता है। विचार से ही बुद्धि को भ्रमित अथवा ज्योतित, अशान्त अथवा शान्त किया जा सकता है। विचार मे ही मनुष्य स्वर्ग अथवा नरक भी विचार में ही निहित होते है। बन्धनयुक्त अथवा बन्धनमुक्त होता है। विचार का मोक्ष ही मनुष्य का मोक्ष है।

विचार मनुष्य का विशेषाधिकार है जिस का उपयोग न करना उसे पशु, दुरुपयोग करना दानव और सदुपयोग करना मानव बना देता है। सद्विचार उसे दिव्य बना सकता है। विचार समस्त शक्तियों में सर्वोपरि है। सद्विचार मनुष्य को संबल, सुख एवं शान्ति प्रदान कर सकता है। सद्विचार-धारण ही अमृतपान है। सद्विचार के अभाव में, स्वार्थ और शोषण पर आधारित, उन्नति वास्तविक लाभ नहीं होती, हानि होती है। सद्विचार पर आधारित उन्नति ही शान्ति प्रदायक होती है। सद्विचार ही सदाचार एवं सुखी जीवन का आधार होता है।

मन के क्षेत्र में चेतना स्तर पर विचार का अविर्भाव होता है जैसे अगाध जल में तरंग का उद्भव होता है। विचार सूक्ष्म एवं निराकार होता है। विचार की शक्ति निस्सीम और उसका प्रभाव अपरिमेय होता है। शब्द के रूप में प्रवाहित एवं प्रसारित होने पर विचार स्थूलता ग्रहण कर लेता है। विचार शब्दातीत होता है तथा शब्द उसकी अभिव्यक्ति का एक स्थूल माध्यम है। विचार ही शब्द की आत्मा होता है जिसके बिना वह निर्जीव एवं निष्प्रभाव हो जाता है।

महात्मा का मौन विद्वान् की मुखरता से अधिक प्रभावशाली होता है। सत्पुरुष के पवित्र मन की अव्यक्त विचार-तरंग जनमानस को अलक्षित रूप में आकृष्ट कर लेती है तथा उसके थोड़े से सरल शब्द मन को मुग्ध कर लेते हैं। वैदिक ऋषिगण, बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, सुकरात, कन्फयूशस, ईसा और मोहम्मद की सहज वाणी उद्बोधक एवं कालजयी है। आन्तरिक स्वच्छता एवं निर्मलता विचार को द्युतिमान बना देती है। वैचारिक स्वच्छता चारित्रिक स्वच्छता में प्रस्फुटित एवं प्रतिबिम्बित हो जाती है।

चिन्तन, मनन, अनुभव और अनुभूति से संपुष्ट विचार आचरण द्वारा अभिव्यक्त होने पर प्रभावोत्पादक हो जाता है। पवित्र मन में गहरे स्तर पर साक्षात्कृत विचार ही "दर्शन" होता है। स्वच्छ विचार के आदान-प्रदान से मन का मैल धुलता है। ज्ञान, अनुभव और अनुभूति का आधार लेकर सहज भाव से (सीधा) सोचने, बोलने तथा आचरण करने से ही अपना और दूसरों का हित-सम्पादन किया जा सकता है। विचार, वचन और आचरण में एकरूपता होना व्यक्ति के आत्मबल एवं प्रभाव को प्रगाढ़ कर देता है। विचार से आचार निष्पन्न होता

है। आचार के बिना विचार भी अधूरा रह जाता है। आचारहीन को वेद भी पुनीत नहीं कर सकते—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।

विचार ज्ञान-विज्ञान की आत्मा है; विचार ही बुद्धि का प्रकाश है; विचार ही समस्त प्रगति का मूलाधार है। विचार के प्रकाश बिना विद्वत्ता एक दुर्वह भार है। विचार का प्रकाश मन को शीतलता एवं शांति, उत्साह एवं ऊर्जा प्रदान करता है। विचार ही कर्म-प्रेरक होता है तथा वैचारिक प्रेरणा से कर्म महान् हो जाता है। विचार मानव मात्र की सम्पदा है, उस पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। विचार-स्वातन्त्र्य सभ्यता का गौरव होता है यद्यपि वह संयत अवश्य होना चाहिये। विचार और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रति गहरी आस्था होना जीवन में स्वातन्त्र्य चेतना के स्वरों को प्रखर बना देता है। विचार का बरबस लादना विचार का हनन है, हिंसा है। विचार का पोषण, प्रचार एवं प्रसार सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति के प्रतीक हैं। उत्तम विचार-बीज अंकुरित होकर पुष्पित और पल्लवित होता है तथा वृक्ष के रूप में विवर्द्धित होकर छाया एवं फल द्वारा समाज को सुख-शान्ति एवं संबल प्रदान करता है।

अन्तर्मुखी होने पर, विचार के सहारे विवेक जगाने पर ही जीवन को उत्तम दिशा दी जा सकती है, जीवन में सत्यं शिवं सुन्दरम् के समावेश द्वारा उसे उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। जीवन में घृणा के स्थान पर प्रेम, क्रोध के स्थान पर क्षमा, स्वार्थ के स्थान पर त्याग, संकीर्णता के स्थान पर उदारता, अधिकारलिप्सा के स्थान पर कर्त्तव्यबोध, स्वेच्छाचारिता के स्थान पर संयम, उच्छृङ्खलता के स्थान पर आत्मानुशासन, दम्भ के स्थान पर विनम्रता, क्रूरता के स्थान पर करुणा, छल-कपट के स्थान पर सरलता, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना, पीडन के स्थान पर परोपकार, शोषण के स्थान पर पोषण, दुष्टता के स्थान पर साधुता, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना, दुराचार के स्थान पर सदाचार, दानवता के स्थान पर मानवता, अन्याय के स्थान पर न्याय, संहार के स्थान पर सृजन, निराशा के स्थान पर आशा, विषाद के स्थान पर उत्साह, सन्देह के स्थान पर विश्वास, असत्य के स्थान पर सत्य, अशान्ति के स्थान पर शांति की प्रस्थापना होने पर यह संसार दुःखालय के स्थान पर एक आनन्दमन्दिर तथा जीवन दुर्वह बोझ के स्थान पर एक मधुर संगीत हो जायेगा। धर्म वही है जो जीवन में आशा का संचार करे, शक्तियां जगा दे तथा गतिरोध दूर करने में सहायक बन कर मार्ग स्पष्ट एवं प्रशस्त कर दे, जीवन को ओजमय एवं प्रसादमय बना दे, अमृत का आस्वादन करा दे।

धर्म के दो प्रमुख अंग हैं—विचार और आचार। विचारहीन आचार

निष्प्रभाव होता है तथा आचारहीन विचार एक बोझ होता है। विचार और आचार के समन्वय से पूर्णता आती है।

मानस में राम का उत्तम चरित्र सद्विचार और सदाचार के समन्वय का उज्ज्वल उदाहरण है। रामो विग्रहवान् धर्मः। राम स्वयं धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं। राम ने अपने सद्विचार और सदाचार द्वारा उपनिषद् के मूलभूत उपदेश "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" (त्यागपूर्वक भोग) को चरितार्थ करके मानवमात्र के समक्ष सद्विचार एवं सदाचार का एक आदर्श प्रस्तुत किया है। सदाचारकी प्रतिष्ठा के लिये सद्विचार का पोषण एवं अनुसरण होना आवश्यक है। विचार ही आचार का आधार है, सुख-शान्ति का सूत्र है। राम विचार तथा आचार में उदात्त हैं।

---

१३

# मानस में सर्वोदय का आदर्श

रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही तुलसी ने अपना एक प्रमुख आदर्श प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर महाकवि ने व्यक्ति, समाज और साहित्य का मूल्यांकन किया है। श्रेष्ठ मनुष्य कौन है ? तुलसी की दृष्टि में वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जिसके यश, धन, वैभव एवं सर्वस्व का उपयोग सबके कल्याण के लिये होता है, तथा जो गंगा नदी के समान सब के लिये हितकर है। वह समाज श्रेष्ठ है जहाँ ऐसे परोपकारी व्यक्तियों का बाहुल्य हो। वह साहित्य श्रेष्ठ है जो सबके लिये विविध रूप से लाभकारी हो।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।

भारतीय संस्कृति के गौरव ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण की उक्ति है कि सम्पूर्ण प्राणियों के हित में संलग्न मनुष्य ईश्वर को प्राप्त होते हैं—ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। (गीता १२।४)। ऋषिगण मंगल कामना करते थे कि संसार के सभी प्राणी सुखी रहें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

प्राणिमात्र के दुःख निवारण में जुटने के लिये स्वार्थ त्याग करना नितान्त आवश्यक होता है—

न त्वहं कामये राज्यं न सुखं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्॥

सुखी रहें सब जीव जगत के, दुःखी रहे न कोय—यह उत्तम भावना भारतीय विचारधारा में ओत-प्रोत है। सबके हित में ही व्यक्ति का अपना हित भी निहित है—आत्मनो मोक्षार्थं, जगद्धिताय च। सबके हित में अनवरत रत व्यक्ति ही श्रेष्ठ पुरुष है—इसी आदर्श के अनुरूप तुलसी ने राम को पुरुषोत्तम स्वीकार करके तथा उनको अपना उपास्य एवं आराध्य मानकर उनके चरित्र-चित्रण करने में वाणी की सफलता समझा।

तुलसी के राम की कीर्ति और विभूति सुरसरि के समान सबके हित के लिये है तथा तुलसी का रामचरितमानस भी सुरसरि के समान सबके हित के लिये है। महाकवि तुलसी के रामराज्य की कल्पना भी सर्वोदय सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। सर्वोदय की भावना व्यक्ति, समाज एवं साहित्य को पुनीत कर देती है।

सुरसरि गंगा पतितपावनी है तथा सबके लिये सुलभ है। गंगा 'सकल जन रंजिनी' है। नभचर, जलचर, थलचर, पशु, पतंग, कीट, जटाधारी तपस्वी, चाण्डाल, कोढ़ी, कलंकी, दीन-हीन, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, ऊंच-नीच, ज्ञानी-अज्ञानी, राजा-रंक, देव, यक्ष, गन्धर्व, मुनि, किन्नर, उरग, दानव, मानव—सभी का परिपालन गंगा समान रूप से करती है। तुलसी सर्वपापनाशक रामचरित का गान करने के लिये पापहारिणी, विमलकारिणी गंगा का आशिष प्रारम्भ में ही मांगते हैं।

पृथ्वी पर गंगा का अवतरण भगीरथ की तपस्या का फल था। भगीरथ ने भी जनकल्याण हेतु ही गंगा को पृथ्वी पर प्रवाहित किया था। गंगा प्रयागादि तीर्थों की भांति एकदेशीय नहीं है बल्कि जन-जन के हित के लिये हिमालय के शीर्ष से सागर के अङ्क तक प्रवाहित हो रही है। पतितपावनी गंगा सर्वोदय की साक्षात् प्रतीक है।

साहित्य (भनिति) वही श्रेष्ठ है जो सुरसरि के सदृश सबके लिये कल्याण-कारक है।'तद् वाग् विसर्गों जगताघविप्लवो' (भागवतम् प्रथम स्कन्ध ५।१) अर्थात् वाणी वह है जो प्राणिमात्र का पाप दूर करे, सबके लिये कल्याणकारी हो। यह तुलसी का मापदण्ड है।

सुमंगलमयी गंगा तो सबके लिये हितकर है, किन्तु सब अपनी-अपनी शक्ति एवं क्षमता के अनुरूप ही उसका लाभ उठा सकते हैं। समान हितभाव होने पर भी, समान सहायता देना एक कोरा आदर्श हैं। व्यक्ति की सामर्थ्य, आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुरूप ही सहायता देना सम्भव एवं उचित होता है। समान अवसर मिलने पर भी समान लाभ उठाना सम्भव नहीं होता है।

समानता की धुन में दूसरों की आवश्यकता, सामर्थ्य आदि पर समुचित विचार किये बिना समान सहायता देना घातक सिद्ध हो सकता है। एक परिवार में ही सब को समान भोजन नहीं दिया जा सकता। रोगी को अन्न के स्थान पर दुग्ध-आहार अथवा फलाहार दिया जाता है। किसी के लिये मिष्ठान्न वर्जित होता है, किसी के लिये लवण। सहायता देने के भाव में समानता होना आवश्यक एवं उचित है किन्तु समान सहायता देना न उचित हैं, न सम्भव ही।

कुशल अध्यापक इस रहस्य को भली-भांति जानता है। शिक्षक के लिये सभी शिष्य समान प्रिय होते हैं और वह सभी का कल्याण चाहता है किन्तु मन में समभाव संजो कर भी वह शिष्यों की आयु, रुचि, क्षमता, ग्रहणशक्ति आदि के आधार पर पृथक्-पृथक् शिक्षण-पद्धतियों को अपनाता है। विज्ञान, वाणिज्य, कला आदि पृथक् विभाग रुचि-भेद के आधार पर किये जाते हैं। एक कक्षा में एक ही पाठ पढ़ाते हुए भी

शिक्षक कुशाग्रबुद्धि या मन्दबुद्धि शिष्यों का पृथक्-पृथक् ध्यान करते हुए उन सबके भिन्न-भिन्न स्तरों को छूने का प्रयत्न करता है। सत्य तो यह है कि अध्यापक समान रूप से हितैषी होने के कारण ही शिष्यों को समान स्तर की सहायता नहीं देता है तथा उनकी रुचि, सामर्थ्य, ग्रहणशीलताआदि के अनुरूप उनके साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है, भिन्न-भिन्न स्तर पर शिक्षण करता है।

श्रेष्ठ साहित्य गंगा की भांति सुगम एवं सरल होता है—

**सरल कवित कीरति विमल सोई आदरहिं सुजान।**
**सहज वयरु बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥**

चतुर जन ऐसे सरल काव्य का आदर करते हैं जिसमें निर्मल चरित्र का वर्णन हो तथा जिसे सुनकर वैरी भी सहज वैर भूलकर सराहना करने लगें। उसी का सम्मान साधु-समाज करता है। सरलता में उदात्त भाव होता है। साधु समाज भनिति सनमान। काव्य की सरलता का अर्थ यह है कि काव्य में कहीं अस्पष्टता अथवा दुरूहता न हो। सरलता का अर्थ यह कदापि नहीं है कि गंगा में अगाधता न हो और सर्वत्र उथलापन हो अथवा काव्य में भावगारिमा आदि न हों। गंगा की भांति श्रेष्ठ साहित्य सब ही के लिये भिन्न-भिन्न स्तर पर सुखप्रद होता है। बाल-वृद्ध गंगा के तटीय जल में ही स्नान करते हैं, रोगी जन बाहर तट पर बैठ कर ही आचमन कर लेने में सन्तुष्ट हो जाते हैं, तैराक गंगा में दूर तक तैर लेते हैं किन्तु वे भी उसके पार नहीं जा सकते हैं। गंगा में अनेक स्थल ऐसे भी होते हैं जहां केवल विशाल नौका ही चल सकती है। गंगा की ही भांति रामचरितमानस है। अनपढ़ लोग कुछ दोहे-चौपाई रटकर गाते हैं, पढ़े-लिखे लोग समस्त रामायण का पारायण करते हैं, किन्तु कहीं-कहीं तो उद्भट विद्वान् एक चौपाई के अनेक अर्थ करके भी उसके भाव की पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाते हैं। 'सुरसरि सम सब कर हित होई' का अर्थ यही है कि रामचरितमानस अथवा कोई भी श्रेष्ठ काव्य बालक से वृद्ध तक, अज्ञ से विद्वान् तक सबके लिये ही उपयोगी होता है। ऐसे ही अमर काव्य अथवा जनोपयोगी एवं सर्व हितकारी साहित्य का आदर बुद्धिमान् समालोचक करते हैं। यदि बुद्धिमान् समालोचक आदर न करें तो कवि का श्रम व्यर्थ ही रहता है। जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं। पण्डितजन ही काव्य अथवा उत्तम साहित्य के गुणग्राही एवं आस्वादन-कर्त्ता होते हैं तथा उसका समुचित मूल्यांकन करते हैं। रामचरित मानस में ग्राम्यजन के लिये सरल भाव एवं सरस भाषा हैं किन्तु विद्वानों के जूझने के लिये गूढ़ स्थल भी हैं। मानस में रसिक जन के लिये सब प्रकार की सामग्री उपलब्ध है। 'सरल' का अर्थ तोता-मैना की निस्सार कहानी अथवा उथला जल कदापि नहीं है बल्कि सहजता एवं स्पष्टता तथा सुग्राह्यता है।

गंगा की भांति उत्तम साहित्य पावन होता है। "सुनि सुरसरि सम पावन बानी।" गंगा नदी में असंख्य नाले गिरते हैं किन्तु वे गंगा का अंग बन जाते हैं तथापि वे कदापि गंगा की सहज पावनता को भ्रष्ट नहीं करते। अन्य नदियां केवल

भौतिक लाभ देती हैं, सुरसरि आध्यात्मिक लाभ भी देती है। सुरसरि के सदृश सन्त और सत्साहित्य भी पावन होते हैं तथा आध्यात्मिक लाभ भी देते हैं।

तुलसी का मानस वहुजनहित नहीं, सर्वजनहित के आदर्श को प्रतिपादित करता है। रामराज्य सर्वोदय का आदर्श है। समाज एक अवयवी अथवा संघटित शरीर-रचना की भांति होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी एक स्थान है जो उसके लिये तथा समाज के लिये परम महत्वपूर्ण होता है। सभी अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना कर्त्तव्यपालन करें तथा दूसरे के कर्त्तव्य की ओर न देखें। श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुनिष्ठतात् (गीता)। अच्छी प्रकार किये हुए दूसरे के कर्म से अपना साधारण कर्म श्रेष्ठ होता है। रामराज्य में सभी प्रजाजन 'निज-निज धरम निरत' हैं। सभी अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना विकास स्वधर्म पालन द्वारा करते हैं। नींव के पत्थर का महत्व भवन के भव्यभाल पर चमकने वाले पाषाण खण्ड के महत्व से कदापि कम नहीं है। समाज में मनुष्य होने के नाते सभी समान हैं तथापि सामर्थ्य-भेद, गुण-भेद होने के कारण सबके साथ समान व्यवहार होना न सम्भव है, न उचित ही। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति एवं क्षमता के अनुरूप विकसित होने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिये। किन्तु सभी का एक ही दिशा में तथा समान रूप से विकास सम्भव नहीं होता है—

**एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पृथक् गुन सील अचारा।**
**कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता॥**

रामराज्य का अर्थ है सबको अपने-अपने स्थान पर पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होना जो सर्वोदय का मूल सिद्धान्त है। विकास का पूर्ण अवसर मिलने पर विषमता मानो समता वन जाती है। सर्वोदय में वर्गों की परस्पर घृणा और वर्ग-संघर्ष की कल्पना सम्भव नहीं है क्योंकि सर्वोदय परस्पर प्रेम एवं सद्भावना पर आधारित होता है। राम के लिये निषाद भरत के सदृश प्रिय हैं, शवरी कौशल्या की भांति पूज्या है।

सर्वोदय के स्रोत राम प्रेम की मूर्ति हैं। प्रेम का अर्थ है त्याग, सेवा, परोपकार, उदारता, क्षमा और तपस्या। त्यागी राम में स्वार्थ की गन्ध भी नहीं है। राम के प्रेम की महिमा ऐसी है कि प्रजा में सहज विषमता होने पर भी उसका दुष्प्रभाव नहीं होता है। वयरु न कर काहू सन कोई, रामप्रताप विषमता खोई। प्रजातन्त्र में परस्पर प्रेम, सद्भावना एवं सहयोग होने पर विषमता की विषमयता समाप्त हो जाती है किन्तु उसका स्रोत शासक की समता नीति होता है। शासक राम का समता का आदर्श ही प्रजाजन में विषमता को सीमा में बांधकर रखता है। जब शासक त्याग के आदर्श को छोड़कर स्वार्थसिद्धि, कुनवापरस्ती अथवा परिग्रह के कुचक्र में फंस जाते हैं, तब समाज में विषमता का विष व्याप्त हो जाता है तथा अशान्ति छा जाती है। यथा राजा तथा प्रजा। शासक वर्ग के भ्रष्ट हो जाने पर समाज की रक्षा का कार्य कौन करेगा? रक्षक के भक्षक हो जाने पर समाज का त्राण कैसे हो सकेगा? सबसे

बड़ा दायित्व शासक पर होता है। प्रजा उसे अपना आदर्श मानकर उसका अनुसरण करती है। राम प्रजाहित को स्वहित मानते हैं और सबके कल्याण की बात सोचते हैं। प्रजा में ईर्ष्या-द्वेष के आधार पर वर्ग-भेद उत्पन्न करके वर्ग-संघर्ष एवं हिंसा को उत्प्रेरित करना भयंकर भूल है। शासक के त्याग एवं पुण्य प्रताप से प्रजा में समृद्धि, सुख और शान्ति छा जाते हैं—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य नहिं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

रामराज्य में सभी कल्याण के अधिकारी हैं। 'सकल परम गति के अधिकारी।'

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

रामराज्य में शासन की ओर से सबके हितसम्पादन का प्रयत्न होता है, सब चरित्रवान् हैं, सब उदार हैं—'सब उदार सब पर उपकारी।' रामराज्य परस्पर प्रेम पर आधारित है, परस्पर फूट कहीं नहीं है।

"दंड जतिन्ह कर भेद जंह नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचन्द्र के राज॥"

शासक-राम के त्याग एवं प्रजाजन के परस्पर प्रेम के कारण राज्य में सुख-समृद्धि है। 'करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा।' रामराज्य में सभी सुख-भोग के अधिकारी हैं। सुख-भोग की विषमता सीमित है। राम की सात्विकता और प्रजा के धर्मरत रहने का प्रकृति पर भी अमिट प्रभाव है—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन।
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाइ।
कूजहि खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा।
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा।
लता बिटप मांगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं।
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी।
प्रकटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी।
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं।
सरसिज संकुल सकल तडागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मांगे बारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज।

रामराज्य में झगड़ों के प्रमुख कारण कामिनी-कांचन के सम्बन्ध में एक

व्यवस्था है। स्त्री पतिव्रता हैं और पुरुष एकनारिव्रती हैं। 'एक नारिव्रत रत सब झारी। ते मन वच क्रम पति हितकारी।' स्त्री-पुरुष इस व्यवस्था का पालन करते हैं और सुखी रहते हैं। मातृवत् परदारेषु। धन के सम्बन्ध में भी तुलसी ने व्यवस्था दी है—संपति सब रघुपति कै आही। समस्त धन ईश्वर का है, समाज का है। राम स्वयं त्यागमूर्ति हैं और भोग से दूर हैं। 'नाहित राम राज के भूखे। धरम धुरीन विषय रस रूखे।'

मनुष्यों को धन के उपयोग का अधिकार है किन्तु वे उसके स्वामी नहीं हैं। धन के उपयोग का आदर्श तुलसी ने प्रस्तुत किया है—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब करहित होई।' परोपकाराय सतां विभूतयः। धन मात्र भोग के लिये नहीं, सेवा और परोपकार के लिये होना चाहिये। सर्वोदय से ही अन्त्योदय निष्पन्न हुआ।

आपन्नार्ति प्रशमनफला सम्पदो ह्युत्तमानाम् (कालिदास)। उत्तम जन की सम्पत्ति (अथवा पुरुपार्थ) की सार्थकता एवं सफलता संकटग्रस्त जीवों के विपत्ति निवारण में निहित होती है। 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई।' 'परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन्ह कंहु जग दुर्लभ कछु नाहीं।' धन के उत्पादकों के लिये विशेप सुख सुविधा हो, पुरस्कारस्वरूप उन्हें विशेप किन्तु मर्यादित लाभ मिलें तथापि प्रचुर धन पर किसी का स्थायी एकाधिकार न हो, वल्कि न्यासभाव (अमानतदारी) हो और समस्त धन के द्वारा सबका हित हो, सर्वोदय हो—यह सर्वोत्कर्ष का सूत्र है। धन-भोग के आधार पर वर्गों का उदय होना और ईर्ष्या-द्वेपजनित वर्ग-संघर्ष और परस्पर घृणा का व्याप्त होना समाज और व्यक्ति की सुख-शान्ति के लिये घातक है। समाज के एक वर्ग अथवा अंग को नष्ट करके दूसरे का अभ्युदय करना तथा एक वर्ग अथवा अंग का पोषण करके दूसरे का शोपण करना सर्वोदय सिद्धान्त के विरुद्ध है। सर्वोदय का आधार अपरिग्रह, परस्पर प्रेम, कर्त्तव्यपालन, सेवा, त्याग, परोपकार हैं। भगवान् उनके मन में वसते हैं जिनमें सर्वोदय एवं सर्वहित की भावना है तथा जो सुख-दुःख में सम रहते हैं—

सबके प्रिय सबके हितकारी, दुख सुख सरिस प्रशन्सा गारी।
कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी, जागत सोवत सरन तुम्हारी।
तुम्हहिं छांड़ि गति दूसर नाहीं, राम बसहु तिनके मन मांही।

समाज में सब के प्रति समभाव होना सर्वोदय के लिये आवश्यक है। परमात्मा सबके भीतर एकसमान है—हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (गीता १३।१७) 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गीता १३।२७) अथवा 'समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्' (गीता १३।२८) ।प्राणिमात्र में सम भाव से परमेश्वर का दर्शन करने वाला ही परमगति को प्राप्त करता है। समदृष्टियुक्त व्यक्ति अनासक्त होकर शान्त हो जाता है—

सम दुखः सुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः। गीता १४।२४।

सम दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति अहंकाररहित होता है तथा शत्रु-मित्र, निन्दास्तुति के भाव से ऊपर उठकर स्वस्थ, अनासक्त भाव में रहता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः। गीता १२।१८।

सम, अनासक्त, सन्तुष्ट एवं स्थिरमति मनुष्य ईश्वर का प्रिय हो जाता है, ईश्वरवत् हो जाता है—

तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः। (गीता १२।१९

तुलसी सारे समाज को प्रभु का विराट् रूप मानते हैं। ऐसी दृष्टि वाले व्यक्ति सबकी सेवा का यत्न करते हैं तथा उन्हें किसी के लिये राग-द्वेष नहीं होता है।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करैं विरोध।

तुलसी ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप जनकल्याण भावना एवं सर्वोदय की परम्परा का निर्वाह किया है। जो समस्त प्राणियों में सर्वोदय की भावना को प्रज्ज्वलित करता है वही धर्म महान् है, वही मनुष्य महान् है। सर्वोदय की भावना भारतीय संस्कृति के इन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है—ईश्वर सबमें समान रूप से व्याप्त है (समं सर्वेषु भूतेषु), त्यागपूर्वक भोग करना चाहिये (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः) तथा सबके हित में रत होने पर ही अपना हित होता है (सर्वभूतहिते रताः)।

सर्वोदय की भावना के संपोषण में ही समस्त समाज का कल्याण सन्निहित है। तुलसी के अमृतमय शब्द—'सीय राम मय सब जग जानी, करहूं प्रणाम जोरि जुग पानी'—सर्वोदय के ही प्रतीक हैं।

———

१४

# मानस में प्रेम तत्व

प्रेम आत्मा का स्वभाव है। प्रेम समस्त सीमाएं लांघ कर प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है। प्रेम तत्व सोमरस है जिसके पान से मनुष्य की चेतना एवं ऊर्जा जाग्रत होकर दिव्य हो जाती है तथा मनुष्य सुरक्षित ही नहीं, सशक्त एवं सबल हो जाता हैं। प्रेम अलौकिक होकर भी लौकिक है। विद्वज्जन प्रेम की चर्चा कर सकते हैं किन्तु प्रेम अनुभूति का विषय है तथा प्रेमीजन ही प्रेमतत्व को जानते हैं। प्रेम को शब्दों की परिधि में, परिभाषा के दायरे में, बांधना सम्भव नहीं है। प्रेम की कोई सीमा नहीं होती तथा प्रेम निराला ही तत्व होता हैं। प्रेम प्रकाश है, जीवन का उजियाला है, जीवन पथिक के लिये पथ है और लक्ष्य भी। कबीर ने कहा था—"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय॥" प्रेम की अनुभूति बौद्धिक धरातल से ऊपर उठ कर होती है। प्रेम के प्रकाश से बुद्धि जगमगा उठती है। प्रेम मन और बुद्धि को निर्मल प्रकाश प्रदान करता है।

प्रेम का व्यावहारिक अर्थ है प्रेमास्पद के लिये न्यौछावर होना, सर्वस्व अर्पण करना, सहर्ष त्याग करना, सब कुछ खो देना तथा उसमें अपना हित मानकर कृतार्थता का अनुभव करना। प्रेम एक मधुर तपस्या है। प्रेम में सहनशीलता एवं क्षमाशीलता अन्तर्निहित होती है। प्रेम कभी पुराना अथवा पर्यूषित नहीं होता, कभी सड़ता-बुसता नहीं, कभी निस्तेज और नीरस नहीं होता। प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता सा रहता है, छलकता ही रहता है, उसकी गति निर्बाध एवं अविच्छिन्न होती है। प्रेम में निस्पन्द जड़ता कहाँ? प्रतिक्षण नव्यता को धारण करने वाला, प्रेमरस अनिवर्चनीय होता है। प्रेम तत्व को समझने एवं ग्रहण करने के लिये मन के उच्च धरातल की आवश्यकता होती है। प्रेम पावन होता है तथा प्रेमकर्त्ता एवं प्रेमास्पद दोनों को पवित्र कर देता है।

प्रेम में उत्सर्ग ही उत्सर्ग है, खोना ही खोना है किन्तु इस उत्सर्ग में ग्रहण

और खोने में पाना अन्तर्निहित है। प्रेम क्षणिक मुग्धता, आवेशमात्र अथवा कल्पना-जगत् की रोमानी प्रवंचना नहीं है। प्रेम में पवित्रता होती है और स्वार्थ एवं शोषण की गन्ध उसे छू नहीं पाती है। प्रेम में आदान-प्रदान की सौदेबाजी नहीं होती है। प्रेम में पराजय की कामना होती है और इस पराजय में उल्लास होता है। प्रेमास्पद की प्रसन्नता ही एकमात्र सुख का कारण होने से अनेक लांछन सह कर भी सहज प्रसन्नता बनी रहती है। प्रेम पावन होता है तथा सम्पर्कमात्र से कलुष और पाप को धो देता है। प्रेम शीतल होता है तथा दुःख को शान्त कर देता है। प्रेमाश्रु संसार की सर्वोत्कृष्ट निधि है। प्रेम-निधि की अपेक्षा समस्त भौतिक सुख-सम्पदा तुच्छ है।

प्रेम से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा हृदय के निर्मल होने पर ही प्रेम तत्व का ग्रहण सम्भव होता है। प्रेम और आन्तरिक निर्मलता अन्योन्याश्रित हैं, सहगामी हैं। प्रेम-तत्व का आदान-प्रदान एवं अभ्यास ही व्यक्ति और समाज के लिये कल्याण मार्ग को प्रशस्त करता है। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व पूर्ण होता है। प्रेम से ओत-प्रोत होने पर व्यक्ति का अहंकार निर्मूल हो जाता है तथा वह सहज शुद्ध आचरण द्वारा जीवमात्र के कल्याण में रत रहने में कृतार्थता का अनुभव करता है। प्रेमपूर्ण व्यक्ति सन्त होता है तथा वह अपने प्रभाव से कटु को मधुर तथा दुष्ट को सज्जन बना देता है। मेघ खारी जल पीकर मीठा जल बरसाता है। चन्दन का वृक्ष आक्रामक कुठार के लौहफलक को अपनी सुगन्ध से सुगन्धित कर देता है। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व सहज नम्र, मधुर एवं परोपकारी होता है। प्रेमपूर्ण व्यक्ति भीतर निर्भीक एवं दृढ़ होकर भी सहज मृदु एवं मधुर होता है। प्रेमपूर्ण व्यक्ति सृष्टि-उपवन का सौरभमय सुपुष्प होता है।

प्रेम को केवल स्त्री-पुरुष के दायरे में ही सीमित करना मानो उसे कैद कर लेना है, उसका दम घोटना है। प्रेम वासनारहित, निश्छल, शुचि एवं शुद्ध होता है। वासना भौतिक स्तर पर दैहिक आकर्षण पर आधारित होती है। प्रेम निर्दोष होता है, वासना सदोष होती है। प्रेम स्थायी तत्व होता है, वासना क्षणिक यौन मुग्धता। प्रेम सोने का खरा सिक्का है, वासना खोटा। प्रेम का आदि, मध्य और अन्त सुखमय होता है। वासना का आदि दोषमय, मध्य भारमय और अवसान दुःखमय होता है।

विवाह एक पवित्र एवं मधुर बन्धन होता है जो दायित्वों के निर्वहन द्वारा जीवन की गतिविधि को आगे बढ़ाने की दिशा में अत्यावश्यक होता है। प्रेम प्रेरित व्यक्ति के लिये नारी तुच्छ सेविका अथवा भारस्वरूपा नहीं होती है, बल्कि अर्द्धांगिनी होती है, प्राणवल्लभा होती है। मतभेद होने पर भी परस्पर समन्वय एवं एक-लक्ष्यता होने के कारण कलह एवं अशान्ति उन्हें छूते नहीं हैं। वे एक-दूसरे को अपमानित अथवा अभिभूत नहीं करते, बल्कि एक-दूसरे के पूरक होते हैं। प्रेमाधारित दाम्पत्य में घुटन और चुभन नहीं होती, सौन्दर्योपलब्धि होती है। नारी उपभोग की

सामग्री नहीं, प्रवल प्रेरणा स्रोत होती है। वैवाहिक जीवन में एक मर्यादा होती है। दाम्पत्य प्रेम के अन्तर्गत वासना चमक उठती है, परिष्कृत एवं उदात्त हो जाती है। पवित्र दाम्पत्य प्रेम के अन्तर्गत पति-पत्नी एक-दूसरे को सुरक्षा ही नहीं, संवल, सुख और शान्ति भी देते हैं। प्रेम मुक्त होकर भी आत्म-संयम एवं मर्यादा के वन्धन द्वारा वरदान हो जाता है।

भारतीय संस्कृति में राम और सीता दाम्पत्य-प्रेम के आदर्श हैं। राम वल के प्रतीक हैं, सीता करुणा की। राम पौरुष एवं पराक्रम हैं, सीता संजीवनी ममता। राम विचार हैं, सीता भावना हैं। राम सत्य हैं, सीता सौन्दर्य। राम और सीता एक-दूसरे के पूरक हैं तथा उनका समन्वय लोक के लिये कल्याणकारी है।

राम और सीता के प्रेम में शुचिता है। पुष्प वाटिका में परस्पर सन्दर्शन के उपरान्त राम ने मुनि विश्वामित्र से सीता के प्रति अपने अनुराग प्रसंग को निवेदित कर दिया। "राम कहा सवु कौसिक पाहीं, सरल सुभाऊ छुवत छल नाहीं।" राम और सीता के संयोग और विप्रलम्भ दोनों में प्रेम द्युतिमान है।

राम के वन गमन का समाचार सुन कर सीता वियोग के भय से विकल हो गई और कौशल्या के पास पहुँचीं जहाँ राम उनसे विदा माँग रहे थे। सीता चिन्तित थी कि राम के साथ वह जायेंगी अथवा केवल प्राण ही जायेंगे। "की तनु प्रान कि केवल प्राना।" (आजु सखि हौं सुनत हौं पौ फाटत पिय गौन, पौ में हिय में होड़ है पहिले फाटत कौन—देव)। कौशल्या और राम के समझाने पर भी सीता का परितोष नहीं हुआ। सजल नेत्रों से सीता ने कौशल्या का चरण स्पर्श करके निवेदन किया—हे देवि, मेरा अविनय क्षमा करें। मैंने विचार कर लिया है, प्रियतम के वियोग के सदृश अन्य कोई दुःख नहीं है। प्रियतम पति के विना सारी सम्पदा शोकप्रद है। संसार के सारे दुःख मिलकर भी प्रियतम के वियोग के समान क्लेशप्रद नहीं हैं। यदि आप समझें कि मैं प्रियतम के लौटने तक प्राण धारण करती रहूँगी तो आप मुझे अयोध्या में ही रख लें। मैं वन में घोर कष्ट उठाकर भी प्रिय पति के साथ सुखी रहूँगी।"

लागि सासु पग कहकर जोरी, छमवि देवि वड़ि अविनय मोरी।
दीन्ह प्रानपति मोहि सिख सोई, जेहि विधि मोर परम हित होई॥
मैं पुनि समुझि दीखि मन माही, प्रिय वियोग सम दुखु जग नाहीं।

प्राननाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह विनु रघुकुल कुमुद विधु सुरपुर नरक समान॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई, प्रिय परिवारु सहृद समुदाई।
सासु ससुर गुरु सजन सहाई, सुत सुन्दर सुशील सुखदाई।

जंह लगि नाथ नेह अरुनाते, पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ।
तनु वन धाम धरनि पुर राजू, पति विहीन सब सोक समाजू ।
भोग रोग सम भूपण भारू, जम जातना सरिस संसारू ।
प्राननाथ तुम्ह विनु जग माहीं, मो कहुं सुखद कतहुं कछु नाहीं ।
जिय विनु देह नदी विनु वारी, तैसिय नाथ पुरुप विनु नारी ।
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे, सरद विमल दिघु वदनु निहारे ।

खग मृग परिजन नगरु वनु वलकल विमल दुकूल ।
नाथ साथ सुरसदन सम परन साल सुख मूल ॥

वन देवी वन देव उदारा, करिहहिं सासु ससुर सम सारा ।
कुस किसलय साथरी सुहाई, प्रभु संग मंजु मनोज तुराई ।
कंद मूल फल अमिअ अहारू, अवध सौध सत सरिस पहारू ।
छिनु-छिनु प्रभु पद कमल विलोकी, रहिहऊं मुदित दिवस जनु कोकी ।
वन दुख नाथ कहे वहुतेरे, भय विषाद परिताप घनेरे ।
प्रभु वियोग लवलेस समाना, सव मिलि होहिं न कृपा निधाना ।
अस जिय जानि सुजान सिरोमनि, लेइऊ संग मोहि छांड़िअ जनि ।
विनती वहुत करौं का स्वामी, करुनामय उर अंतरजामी ।

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जन अहिं प्रान ।
दीनवन्धु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान ॥

मोहि मग चलत न होइहि हारी, छिनु-छिनु चरन सरोज निहारी ।
सवहि भांति पिय सेवा करिहौं, मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ।
पाय पखारि वैठि तरु छाहीं, करिहऊं वाउ मुदित मन माही ।
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें, कहें दुख समउ प्रानपति पेखें ।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी, पाय पलोटहि सव निसि दासी ।
वार-वार मृदु मूरति जोही, लागिहि तात वयारि न मोही ।
को प्रभु संग मोहि चितवननिहारा सिंघ वधुहि जिमि ससक सियारा ।
मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू, तुम्हहि उचित तप मो कहुं भोगू ।

ऐसेउ वचन कठोर सुनि जौं न हृदउ विलगान ।
तौ प्रभु विपम वियोग दुख सहिहहिं पाँवर प्रान ॥

असि कहि सीय विकल भइ भारी, वचन वियोगु न सकी संभारी ।

सीता ने राम की सभी शंकाओं का उत्तर देकर निर्णय राम पर ही छोड़ दिया। राम ने सीता के भाव का आदर किया और उन्होंने समझ लिया कि सीता दीर्घ वियोग सहन नहीं कर सकेगी। राम ने तुरन्त उन्हें साथ चलने का आदेश दे दिया। सीता कृतार्थ हो गई।

देखि दसा रघुपति जियं जाना, हठि राखें नहि राखिहि प्राना।
कहेउ कृपालु भानुकुल नाथा, परिहरि सोचु चलहु वन साथा॥

यह प्रेम तत्व की विजय है।

वनवास में राम के साथ सीता कठिनाई भूल कर प्रसन्न रहने लगीं तथा वन्य जीवन की अपेक्षा अयोध्या के सुखैश्वर्य को हेय मानने लगीं।

राम संग सिय रहहि सुखारी, पुर परिजन गृह सुरति बिसारी।
छिनु-छिनु पिय विधु वदन निहारी, प्रमुदित मनहुं चकोर कुमारी।
नाह नेह नित बढ़त विलोकी, हरषित रहति दिबस जिमि कोकी।
सिय मनु राम चरन अनुरागा, अवध सहस सम वनु प्रिय लागा।
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा, प्रिय परिवारु कुरंग विहंगा।
सासु ससुर सम मुनि तिय मुनिवर, असनु अमिय सम कंदमूल फर।
नाथ साथ सांथरी सुहाई, मयन सयन सय सम सुखदाई॥

वन में सीताहरण होने पर रावण पंचवटी में अनेक प्रलोभन देकर उनसे अपनी ओर एक वार देखने मात्र के लिये निवेदन करता है। मर्यादा पालन करते हुए सीता तिनके की ओट लेकर रावण को डपट देती हैं तथा विचलित नहीं होती हैं।

तृन धरि ओट कहति वैदेही, सुमरि अवधपति परम सनेही।
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा, कवहुं कि नलिनी करई विकासा।
अस मन समुझि कहति जानकी, खल सुधि नहिं रघुवीर वान की।
सठ सूनें हरि आनेहि मोहि, अधम निलज्ज लाज नहीं तोही।

प्रेम परिपूरित राम हनुमान के माध्यम से सीता को प्रेम सन्देश भेजते हैं—

**तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एकु मन मोरा।**
**सो मन सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति रस एतनोहि माहीं।**

यह सुन कर सीता प्रेममग्न हो गई। "मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही।" प्रेम तत्व की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। हृदय की गति को हृदय ही जानता है। प्रीतिरस की शाब्दिक विवेचना करना असम्भव है। प्रेमानुभूति की अवस्था वर्णनातीत होती है।

हनुमान के लौटने पर राम ने प्रश्न किया कि सीता किस प्रकार प्राण धारण करती हैं। हनुमान ने मार्मिक उत्तर दिया—

**नाम पाहरु दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।**
**लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि वाट॥**

राम का नाम पहरेदार हैं, राम का ध्यान कपाट है। नेत्रों को अपने चरणों में लगाये रखना ताला है। प्राणविसर्जन कैसे हो? विरहाकुल सीता की दशा करुणाजनक है।

> मन क्रम वचन चरन अनुरागी, केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
> अवगुन एक मोर मैं मान,ा बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
> नाथ सो नयनन्हि को अपराधा, निसरत प्रान करहिं हठ बाधा।
> बिरह अगिनी तनु सूल सरीरा, स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
> नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी, जरें न पाव देह बिरहागी॥

सीता कहती हैं कि उनका एक ही अवगुण है कि वियोग होते ही प्राण विसर्जन क्यों नहीं हुआ, किन्तु उसका एक कारण है—नेत्र प्राण निगर्मन नहीं होने देते हैं।

विरह अग्नि है, देह रुई है, श्वास पवन है। अग्नि और पवन का संयोग होने पर देह क्षण भर में जल सकता है किन्तु नेत्र दर्शन की आशा में अश्रुजल बरसा कर अग्निशमन कर देते हैं जिससे देह दग्ध नहीं होता। सीता की वियोगावस्था सुन कर राम प्रेमविभोर हो गये और उनके नेत्र सजल हो गये।

रावणवध में विलम्ब होने पर सीता की चिन्ता का समाधान करते हुए त्रिजटा कहता है कि रावण के हृदय में जानकी का वास होने के कारण राम उसके हृदय पर आघात नहीं करते—प्रभु ताते उर हतइ न तेही, एहि के हृदय बसति वैदेही। राम रावण के विकल होकर सीता का ध्यान छूटने पर ही उसका वध करेंगे। "काटत सिर होइहिं विकल छुटि जाइहिं तव ध्यान।" तव रावनहि हृदय महुँमरिहहिं राम सुजान। सीता राम के गहन प्रेम का स्मरण करके विकल हो गई।

> राम सुभाऊ सुमिरि वैदेही, उपजी विरह विथा अति तेही।
> निसिहि ससिहि निंदति बहुभांती, जुग सम भई सिराति न राती।
> करति विलाप मनहिं मन भारी, राम विरह जानकी दुखारी।

लंका से आने पर सीता ने अपने तेज से अग्नि को शान्त कर अग्नि परीक्षा में अपने पवित्र प्रेम को प्रमाणित कर दिया।

आज के यांत्रिक युग में सौन्दर्य के प्रतिमान ही बदल रहे हैं तथा प्रेम कदाचित् केवल चर्चा एवं संवाद का विषय रह गया है। प्रेम के दिव्याकाश में ही सच्चा सौन्दर्यबोध हो सकता है। मानवीय मूल्यों के तिरोभाव के कारण मनुष्य न मानव है और न पशु ही। वह कुछ और हो गया है जिसे एक नई संज्ञा देनी होगी। मूल्यों की दृष्टि से पश्चिम पूर्व को सजीव, सारमय एवं अनुकरणीय मान कर, पूर्वोन्मुख

हो रहा है, पूर्व को अपना जीवनअंग बना रहा है किन्तु पूर्व पश्चिम की चकाचौंध में पश्चिमाभिमुख होकर उद्भ्रान्त हो रहा है। विद्रोह, कलह, झगड़े, अलगाव, अस्थिरता एवं अशान्ति आज के युग में व्याप्त होते जा रहे हैं। व्यक्ति एवं समाज में सुरक्षा-भाव का अभाव हो गया है।

प्रभु-प्रेम एवं व्यापक जन-प्रेम एक ही तत्व के दो पक्ष हैं। "सिय राम मय सब जग जानी, करहूँ प्रणाम जोरि जुग पानी—इससे बढ़कर मानव-प्रेम का आदर्श क्या हो सकता है? भारतीय मनीषियों ने परस्पर प्रेम, वैवाहिक प्रेम एवं मानव प्रेम के आदर्श को मानवमात्र के लिये प्रस्तुत किया है जिसके अनुपालन में ही व्यक्ति एवं समाज का हित सन्निहित है।

## १५

# मानस में राम का स्वभाव

भारतीय संस्कृति के प्रमुख आदर्श सर्वोदय के अनुसार उत्तमता की परख गंगा की भांति सभी के लिये हितकारी एवं सर्वोदयकारक होने में सन्निहित होती है। उत्तम पुरुष का चरित्र भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में सभी के लिये हितकारक एवं अन्त्योदयकारक होता है। ऐसे लोकोपकारी मानव के जन्म से संसार में सुखद आलोक छा जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सम्वन्ध में भरत के हृदयहारी वचन हैं—

**राम जनमि जग कीन्ह उजागर, रूप सील सुख सब गुन सागर।**
**पुरजन परिजन गुरु पितु माता, राम सुभाउ सबहिं सुखदाता।**
**वैरिउ राम वड़ाई करही, बोलनि मिलनि विनय मन हरहीं।**

राम ने जन्म लेकर संसार को उज्ज्वल प्रकाश प्रदान किया। राम स्वरूप में सौम्य, शील में उत्तम, सब प्रकार से सुखद एवं मानवीय गुणों के मूर्तिमान रूप थे। राम का अमृतमय स्वभाव पुरजन, परिजन, गुरु, पिता, माता आदि सब के लिये सुखकारी था। उनके व्यवहार से मुग्ध होकर शत्रुगण भी उनकी प्रशंसा करते थे। राम का बोलना, मिलना और विनय अत्यन्त मनोहारी थे।

स्वभाव मनुष्य के प्रकृतिप्रदत्त गुणों का प्रकाश होता है। समाज में मनुष्य अपने स्वभाव से ही भला अथवा बुरा प्रख्यापित होता है। स्वभाव के अनुरूप ही मनुष्य आलसी अथवा पुरुषार्थी, प्रमादी अथवा पराक्रमी, भीरु अथवा शूर, कोमल अथवा कठोर, मृदु अथवा रूक्ष, मधुर अथवा कटु, सरल अथवा कुटिल, सुशील अथवा दुश्शील, विनीत अथवा उग्र, सरस अथवा नीरस, सहिष्णु अथवा असहिष्णु, उदार अथवा संकीर्ण, शान्त अथवा अशान्त हो जाता है।

मनुष्य का स्वभाव ही उसके चरित्र का आधार बन कर उसके व्यवहार में प्रस्फुटित होता है। स्वभावगत विशेषता ही चारित्रिक विशेषता का कारण होती है। मनुष्य चरित्र द्वारा ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट, महान् अथवा क्षुद्र, उदात्त अथवा निम्न होता है।

प्रायः यह मान्यता है कि स्वभाव दुस्त्यज एवं दुरतिक्रम होता है तथा मनुष्य स्वभाव में विवश एवं असहाय होता है। स्वभावो हि दुरतिक्रमः। "मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।" किन्तु विवेकशील व्यक्ति विचार द्वारा संकल्पशक्ति जगाकर तथा संयम से स्वभाव में सुधार कर लेते हैं। स्वभाव के परिवर्तन से व्यक्तित्व में परिवर्तन हो जाता है।

प्रेम मनुष्य का स्वभाव है। प्रेम का सहज अदान-प्रदान ही व्यक्ति एवं समाज के उत्कर्ष के लिए प्रथम आवश्यकता है। प्रेम का अर्थ है — सहनशीलता, क्षमाशीलता, उदारता, विनम्रता तथा, संकीर्णता एवं स्वार्थ छोड़कर, सेवाधर्म के व्यापक रूप को अंगीकार करना। प्रेम का अर्थ है परमार्थ के लिये दान—अपनी शक्ति, ज्ञान, धन आदि का परहित में त्यागपूर्ण दान। प्रेमप्रेरित एवं प्रेमपूर्ण दान प्रभावोत्पादक होता है तथा समाज में सुख-शान्ति की प्रस्थापना करता है। प्रेमपूर्ण स्वभाव सबके लिये सुखद एवं कल्याणकारक होता है। वास्तव में प्रेमनिष्ठ सेवाधर्म को अपनाकर कर्त्तव्यपालन करते रहना ही सच्चरित्रता है।

कर्त्तव्यपालन का मार्ग वस्तुतः अधिकारप्राप्ति का सहज मार्ग है। कर्त्तव्यपालन से अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाते हैं और अधिकार ग्रहण के प्रयत्न से अधिकार दूर हो जाते हैं। विम्ब के ग्रहण से प्रतिविम्ब का ग्रहण हो जाता है और प्रतिविम्ब के ग्रहण की चेष्टा करने से न विम्ब मिलता है न प्रतिविम्ब ही। भारतीयसंस्कृति के अनुसार मनुष्य का अधिकार कर्म करने में ही है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते।' कर्त्तव्यपालन ही सारभूत है।

राम का चरित्र वर्णन मर्यादा एवं कर्त्तव्यपालन का निदर्शन है तथा उनके प्रत्येक आचरण में उनका उत्तम स्वभाव प्रतिविम्वित होता है। पुरजन, परिजन, गुरुजन, अरिगण आदि सभी उनके चरित्र एवं व्यवहार से मुग्ध हैं। राम सदैव मर्यादा पालन करते हैं तथा मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।

रामकथा प्रारम्भ होने से पूर्व महात्मा तुलसीदास कहते हैं कि राम विशुद्ध प्रेम से प्रसन्न हो जाते हैं। "रीझत राम सनेह निसोते।" प्रेम की पवित्रता के द्वारा राम ने वन्य प्राणियों को अपना सचिव वना लिया। 'सचिव सुमति कपि भालु।' राम स्वयं वृक्ष के नीचे वैठते थे और वानर ऊपर शाखाओं पर बैठते थे। राम ने उदारतावश वन्य प्राणियों को भी अपने समान वनाकर उन्हें भरपूर आदर दिया।

**प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।**
**तुलसी कहूं न राम से साहिव सील निधान॥**

राम के स्वभाव के विविध आयाम राम कथा के प्रसंगों में उभर कर आते हैं। राम माता, पिता और गुरुजन के प्रति श्रद्धा-भक्ति युक्त हैं—प्रात काल उठि कै रघुनाथा, मात पिता गुरु नांवहि माथा। राम माता-पिता के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं। राजकुमार राम मुनि विश्वामित्र की सेवा में सुख मानते हैं

और रात्रि में शयन से पूर्व अनुज सहित मुनि के चरण दबाते हैं—मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई, लगे चरन चापन दोउ भाई। गुरुजन के प्रति आदर और श्रद्धा प्रकट करके राम उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

पुष्प वाटिका में सीता को देखकर राम के चारु लोचन अचंचल हो गये तथा सीता की शोभा से ठगे से गये। शुचि राम ने अपनी मुग्धावस्था से चकित होकर अपने अनुज लक्ष्मण से पवित्र एवं सहजभाव से अपनी मनोदशा का वर्णन कर दिया—"बोले शुचि मन अनुज सन वचन समय अनुहरि।" राम ने सरल भाव से अपनी मनोमुग्धता का निष्कपट निवेदन मुनि विश्वामित्र से भी कर दिया।

**राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।**

राम विषम परिस्थिति में भी सम रहते हैं। धनुष—यज्ञ में जब जनक ने निराश होकर रोषपूर्वक कहा—अब जनि कोउ माखै भट मानी, वीर विहीन मही मैं जानी। तब लक्ष्मण के उत्तेजित होने पर प्रशान्त राम ने संकेत करके उनके आवेश को शान्त कर दिया—सयनहि रघुपति लखनु नेवारे, प्रेम समेत निकट बैठारे। विश्वामित्र ने शुभ मुहूर्त में राम को धनुपभंजन करने का आदेश दिया। राम गुरुवचन सुन कर समभाव से उठे—सुनि गुरु वचन चरन सिरु नावा, हरपु विपादु न कछु उर आवा।

परशुराम की गर्वोक्ति सुनकर भी राम उत्तेजित नहीं हुए और समभाव स्थित होकर उन्होंने नम्रतापूर्वक धनुपभंजन करना स्वीकार कर लिया।

**समय विलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।**
**हृदय न हरषु विषादु कछु बोले श्री रघुबीरु॥**
**नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥**

परशुराम की आक्रामक उग्रता देखकर भी राम विनीत, मृदु और शीतल वचन ही बोलते रहे। उनका स्वर तनिक भी कठोर न हुआ।

अति विनीत मृदु सीतल बानी, बोले राम जोरि जुग पानी।
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना, बालक बचनु करिअ नहि काना।
बररै बालकु एकु सुभाउ, इन्हहि न संत विदूषहिं काऊ।
तेहि नाहीं कछु काज बिगारा, अपराधी मैं नाथ तुम्हारा।
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं, मो पर करिअ दास की नाईं।
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई, मुनिनायक सोई करौं उपाई।

राम ने हाथ जोड़कर परशुराम से निवेदन किया—हे नाथ आप तो सहज सुजान हैं, बालक की बात पर ध्यान न दें। इसने आपका कुछ काम नहीं बिगाड़ा है। हे नाथ, आपका अपराधी तो मैं हूँ। हे स्वामी, कृपा, क्रोध, वध, बन्धन जो कुछ भी उचित हो, दास मानकर मुझ पर कीजिये। हे मुनिवर, जिस प्रकार भी आपका कोप शान्त हो, मैं वही उपाय करूं।

राम के हृदय की मृदुता उनके व्यवहार और वाणी में प्रकट होती है। राम के बोलने में सहज माधुर्य है। अति क्रुद्ध परशुराम के सामने राम अपना शील-सौन्दर्य बखेरते ही रहे। सुशीतल, विनम्र और अतिशय मृदुल स्वभाव से युक्त राम ने अपना सिर झुका दिया तथा उन्हें सम्मान देते हुए क्षमा याचना की।

राम कहेउ रिसि तजिअ मुनीसा, कर कुठारु आगे यह सीसा।
जेहि रिस जाई करिअ सोइ स्वामी, मोहि जानिअ आपन अनुगामी।
प्रभुहि सेवकहि समरु कस, तजहु विप्रवर रोसु।
वेषु विलोकें कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोसु।
देखि कुठार बान धनु धारी, भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी।
नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा, बंस सुभायँ उतरु तेहि दीन्हा।
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं, पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं।
छमहु चूक अनजानत केरी, चहिअ विप्र उर कृपा घनेरी।
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा, कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।
राम मात्र लघु नाम हमारा, परसु सहित बड नाम तिहारा।
देव एकु गुनु धनुष हमारे, नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे, छमहु विप्र अपराध हमारे।

अत्यन्त उग्र परशुराम को इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ और वे क्रोधपूर्ण मुद्रा से राम को भयभीत करने का प्रयत्न करते हुए उन्हें अपमानित करने लगे—भंजेहु चापु दापु बड़ बाढ़ा, अहमिति मनहु जीति जगु ठाढ़ा। "हे राम, धनुष तोड़ने से तेरा घमंड बढ़ गया है और तू समझ रहा है कि तू संसार को जीत कर खड़ा है।" विनम्र होकर भी राम निर्भीक एवं दृढ़ हैं। राम में क्षात्र तेज और शालीनता, शौर्य और मृदुता का सुन्दर समन्वय है। परशुराम की अपमानजनक गर्वोक्ति के उत्तर में राम ने दृढ़तापूर्वक कहा—हम आपका आदर करते हैं किन्तु स्वभाव से किंचित् भय नहीं मानते हैं—

राम कहा मुनि कहहु विचारी, रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी।
छूअतहिं टूट पिनाक पुराना, मैं कहि हेतु करौं अभिमाना।
जौं हम निदरहिं विप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि, भय बस नावहिं माथ।
देव दनुज भूपति भट नाना, समबल अधिक होउ बलवाना।
जौं रन हमहि पचारै कोऊ, लरहिं सुखेन कालु किन होऊ।
छत्रिय तनु धरि समर सकाना, कुल कलंकु तेहिं पांवर आना।
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी, कालहु डरहिं न रन रघुवंसी।

राम के गूढ़ वचन सुनकर परशुराम के अन्तःकरण में प्रकाश हो गया और उन्होंने राम से क्षमा याचना की।

विवाह के समय अवसर के अनुरूप राम अपनी सासु से विदा माँगने में शील, स्नेह और संकोच से युक्त वाणी बोलते हैं—बोले राम सुअवसरु जानी, सील सनेह सकुचमय बानी।

गुरु के प्रति राम विशेष आदरभाव प्रदर्शित करते हैं। राज्याभिषेक के सन्दर्भ में वशिष्ठ मुनि राम को उपदेश करने के लिए उनके भवन गये। गुरु के आगमन का समाचार सुनकर राम ने द्वार पर आकर उनके चरणों में मस्तक रख कर प्रणाम किया तथा उनकी पूजा की। सीता सहित राम ने उनके चरण पकड़ लिये तथा करबद्ध होकर कहा—मैं तो आपका सेवक हूँ। आप के पधारने से मेरा स्थान पवित्र हो गया है—

> सेवक सदन स्वामि आगमनू, मंगल मूल अमंगल दमनू।
> तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती, पठइअ काज नाथ असि नीती।
> प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू, भयउ पुनीत आजु यहु गेहू।
> आयसु होइ सो करौं गोसाईं, सेवकु लहइ स्वामि सेवकाई।
> सुनि सनेह साने वचन, मुनि रघुवरहि प्रसंस।
> राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंस बंस अवतंस।

मुनि ने राम के गुण-शील और स्वभाव का प्रशंसापूर्ण वर्णन किया। "बरनि राम गुन सील सुभाऊ।"

राज्याभिषेक से पूर्व कैकेयी के मतिभ्रष्ट होने पर दशरथ राम के स्वभाव का वर्णन करते हुए उससे कहते हैं—"जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला, सो किमि करहि मातु प्रतिकूला।" कोपभवन में अपने वृद्ध पिता दशरथ को दुःखी देखकर राम दया-द्रवित हो गये। "करुणामय मृदु राम सुभाऊ।" कैकेयी ने निष्ठुर होकर दो वर माँगने का प्रसंग राम को सुना दिया—राम का वनगमन और भरत का राज्याभिषेक सहजप्रसन्न राम ने मुस्कराकर सब दूषणों से रहित मृदु और मंजुल शब्द कहे जो मानो वाणी के भूषण ही थे—

> मन मुसकाइ भानु कुल भानू, राम सहज आनन्द निधानू।
> बोले वचन विगत सब दूषन, मृदु मंजुल जनु बाग विभूषन।
> सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी, जो पितु मातु वचन अनुरागी।
> तनय मातु पितु तोषनिहारा, दुर्लभ जननि सकल संसारा।
> मुनिगन मिलनु विसेषि वन, सबहि भांति हित मोर।
> तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर।
> भरतु प्राण प्रिय पावहि राजू, विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू।
> जौं न जाऊं वन ऐसेहु काजा, प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा।
> सेवहि अरंडु कलपतरु त्यागी, परिहरि अमिय लेहिं विषु मागी।

तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं, देखु विचारि मातु मन माहीं।
अंव एक दुखु मोहि विसेपी, निपट विकल नरनायकु देखी।
थोरिहिं वात पितहि दुख भारी, होति प्रतीति न मोहि महतारी।
राउ धीर गुन उदधि अगाधू, भा मोहि ते कछु वड अपराधू।
जातें मोहि न कहत कछु राउ, मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाउ।

राम को यह आश्चर्य लगा कि छोटी सी वात पर राजा दुःखी थे। राम के सहज सरल वचन कैकेयी को कुटिल प्रतीत हुए। "सहज सरल रघुवर वचन, कुमति कुटिल कर जान।" राजा दशरथ स्तब्ध थे। राम ने उन्हें प्रेम विवश देखकर स्थान, समय और अवसर के अनुसार विनयपूर्ण आत्म-निवेदन किया—

देस काल अवसर अनुसारी, वोले वचन विनीत विचारी।
तात कहऊँ कछु करऊँ ढिठाई, अनुचितु छमव जानि लरिकाई।
अति लघु वात लागि दुखु पावा, काहूँ न मोहि कहि प्रथम जनावा।
देखि गोसाइँहि पूँछिऊँ माता, सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता।
मंगल समय सनेह वस, सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरपि हियँ, कहि पुलके प्रभु गात।
धन्य जनमु जगतीतल तासू, पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू।
चारि पदारथ करतल ताक, प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके।
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहऊँ वेगिहिं होउ रजाई।
विदा मातु सन आवउं मागी, चलिहउँ वनहि वहुरि पग लागी।
अस कहि राम गवनु तव कीन्हा, भूप सोक वस उतरु न दीन्हा।

राम सहज भाव से राज्य का त्याग कर देते हैं। कर्त्तव्य पालन ही उनका एक मात्र अधिकार है। राम कर्त्तव्य पालन के लिए वन गमन के घोर कष्ट को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। मन प्रसन्न चित चौगुन चाउ, मिटा सोचु जनि राखै राऊ।

**नव गयंदु रघुवीर मनु, राजु अलान समान।**
**छूट जानि वन गवनु सुनि, उर अनंदु अधिकान।**

राम को त्याग करने के लिये कुछ सोच विचार या प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। राम सहज भाव से अपने सत्ता अधिकार का परित्याग कर देते हैं। कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ राम माता कौशल्या से वनगमन के लिए मृदु वाणी में आज्ञा माँगते हैं—

धरम धुरीन धरम गति जानी, कहेउ मातु सन अति मृदु वानी।
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू, जँह सव भाँति मोर वड़ काजू।

आयसु देहि मुदित मन माता, जेहि मुद मंगल कानन जाता ।
जनि सनेह बस डरपसि भोरे, आनन्दु अंब अनुग्रह तोरे ॥
बरस चारिदस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान ।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान ॥

राम ने अपने पिता तथा विमाता कैकेयी को दोष नहीं दिया और चौदह वर्ष के सुदीर्घ वनवास को अपना सौभाग्य ही समझा । सरल राम की माता भी सरल हैं तथा राम की भाँति धर्मज्ञ हैं । कौशल्या सहर्ष वनगमन की आज्ञा दे देती हैं ।

सरल सुभाउ राम महतारी, बोली बचन धीर धरि भारी ।
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका, पितु आयसु सब धरमक टीका ॥
राजु देन कहि दीन्ह बनु, मोहि न सो दुख लेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥
जौं केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना, तौ कानन सत अवध समाना ॥

राम माता को उठाकर उसके हृदय से लग जाते हैं और मृदु वचन कह कर समझाते हैं—

**राम उठाइ मातु उर लाई, कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई ॥**

राम ने प्रिय एवं विवेकमय वचन कहकर माता का परितोष किया—

कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्ह राम परितोष ।

राम की साध्वी पत्नी सीता प्रेममुग्धा हैं तथा उनसे दूर रहकर जीवित नहीं रह सकती हैं । राम सीता के हृदय को जानते हैं । वे सीता को प्रेमपूर्वक समझाते हैं कि वह वन न जायें । राम उनका स्नेहसिक्त प्रबोधन करते हैं । "लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष ।" राम प्रबोधन के समय सीता के लिए अनेक सत्कारसूचक शब्द कहकर उनका संबोधन करते हैं—हे राजकुमारि, हे भामिनि, हे सुंदरि, हे सुमुखि, हे सयानि, हे मृगलोचनि, हे हंसगमनि, हे चन्द्र बदनि इत्यादि । राम सीता की कोमलता और मञ्जुलता की तुलना मराली और कोकिला से करते हैं । "मानस सलिल सुधा प्रतिपाली, जिअइ कि लवन पयोधि मराली । नवरसाल बन बिहरन सीला, सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥"

राम के कोमल एवं मनोहर वचन सुनकर सीता के नेत्रों में जल भर आता है । "सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के, लोचन ललित भरे जल सिय के" । आदर्श पति-पत्नी के शीलयुक्त एवं प्रेमपूर्ण वार्तालाप का यह समस्त प्रसंग अत्यन्त मनोहारी है ।

लक्ष्मण राम के अनुगामी भक्त हैं और अपनी माता सुमित्रा से आज्ञा लेकर

राम के साथ वनगमन करते हैं। सुमित्रा भी राम के स्वभाव की गरिमा को पहिचानती हैं और लक्ष्मण से कहती हैं—

**राम प्रानप्रिय जीवन जी के, स्वारथ रहित सखा सब ही के।**
**पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, सब मानिअहि राम के नाते ॥**

वनगमन के समाचार को सुनकर समस्त अयोध्या में हाहाकार मच जाता है। राम सबके प्रति सकरुण है। राम राजप्रासाद के परिचारक गण के प्रति भी प्रेम निर्वाह करते हैं—

**दासी दास बोलाइ बहोरी, गुरुहि सौंपि बोले कर जोरी ॥**
**सब कै सार संभार गोसाईं, करबि जनक जननी की नाईं ॥**

राम गुरु से दासदासियों की माता-पिता के सदृश देखभाल करने की प्रार्थना करते हैं। राम अयोध्यावासियों को भी प्रेमपूर्वक मृदु वचन कहकर ही समझाते हैं—

**कहि सप्रेम मृदु वचन सुहाए, बहुविधि राम लोग समुझाये।**

वन में राम सीता और लक्ष्मण के साथ सबको सुख देते हुए विचरण करते हैं।

**एहि विधि रघुकुल कमल रवि मग लोगन्ह सुख देत।**
**जाहिं चले देखत विपिन सिय सौमित्रि समेत ॥**

वाल्मीकि के आश्रम में राम ऐसे शब्द बोलते हैं जो कानों के लिये सुखदायी हैं—"बोले वचन श्रवन सुखदाई।" राम की वाणी सहज सरल है। वनवासी तथा मुनिगण भी उससे सुख पाते हैं। "सहज सरल सुनि रघुवर वानी, साधु साधु बोले मुनि ग्यानी।"

राम सीता और लक्ष्मण को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयत्न करते हैं। वे वही कहते और करते हैं जिससे उन्हें सुख मिले। राम उनके मनोविनोद एवं शिक्षण के लिये उन्हें प्राचीनकाल की कथाएँ भी सुनाते हैं।

**सिय लखन जेहि विधि सुख लहहीं, सोई रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।**
**कहहिं पुरातन कथा कहानी, सुनहिं लखनु सिय अति सुख मानी ॥**

राम सीता और लक्ष्मण की ऐसी देखभाल करते हैं जैसे पलक नेत्रों के गोलकों की। किन्तु लक्ष्मण और सीता भी राम की ऐसी सेवा करते हैं जैसे अज्ञानी पुरुष अपने शरीर के पोषण तथा सेवा में रत रहते हैं—

**जोगवहिं प्रभु सीय लखनहि कैसे, पलक विलोचन गोलक जैसे ॥**
**सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि, जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि ॥**

राम-वियोग में व्याकुल भरत जब राम से भेंट करने के लिये वन जाते हैं, वे राम की करुणामयता एवं प्रेमवत्सलता का दर्शन कर अधीर हो जाते हैं। राम के अतिरिक्त उनके हृदय की बात कोई अन्य नहीं जानता है। "को जिय की रघुबर

बिनु बूझा ।" राम के स्वभाव के विषय में भरत की उक्ति है कि राम शील-संकोच, सौष्ठव, सरलता, दया, प्रेम, करुणा और स्नेह के धाम हैं तथा शीलनिधान राम ने शत्रु का भी अनिष्ट नहीं किया—

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ, कृपा सनेह सदन रघुराऊ ।
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा, मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥

चित्रकूट में भरत का आगमन सुनकर राम प्रेमविभोर हो गये और बेसुध होकर उनसे भेंट करने के लिए दौड़े । राम और भरत के प्रगाढ़ प्रेममय परस्पर मिलन से चारों ओर अपूर्व रस उमड़ पड़ा ।

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा, कहुं पट कहुं निषंग धनु तीरा ॥
बरबस लिए उठाइ उर लाये कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥

राम और भरत का प्रेम साधारण नहीं, अपितु अगम है—"अगम सनेह भरत रघुवर को ।" राम ने वहाँ आये हुए पुरजन को उनकी भावनाओं के अनुसार सम्मान दिया । जो जेहि भाँय रहा अभिलाषी, तेहि तेहि के तसि तसि रुख राखी ।

माताओं में राम सर्वप्रथम कैकेयी से मिले तथा उनकी आत्मग्लानि देखकर उनका परितोष करने के लिए प्रयत्नपूर्वक उन्हें समझाने लगे । राम ने अपने सरल स्वभाव तथा भक्तिभाव से उनकी बुद्धि को सिक्त कर दिया । कैकेयी के चरणों में गिरकर राम काल, कर्म और विधाता को दोष देते हुए उनको नाना प्रकार से सान्त्वना देने लगे । राम ने अन्य माताओं का भी प्रबोध करते हुए कहा कि जगत् ईश्वर के अधीन है तथा किसी को भी दोष देना उचित नहीं है । राम स्वयं कष्ट सहकर भी किसी को उस के विकार के लिये दोष नहीं देते हैं तथा सबका परितोष करते हैं । यह राम के स्वभाव का अनुपम औदार्य है । चित्रकूट में ही राम के शील-स्वभाव से प्रभावित होकर मुनि वशिष्ठ सभा में कहते हैं कि राम के समान कोई नीति, प्रेम, परमार्थ और स्वार्थ के यथार्थ तत्व को नहीं जानता है । राम के विचार-दर्शन का सार है—स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों के हित में कर्त्तव्यभावना से सहर्ष जुटे रहना । "नीति प्रीति परमारथ स्वारथ, कोउ न राम सम जान यथारथ ।"

राम भरत को यश देने में कोई कमी नहीं रखते हैं तथा राम के वचन सदा मंजुल, मृदुल और मंगलमूल हैं—

बोले गुरु आयसु अनुकूला, वचन मंजु मृदु मंगल मूला ॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई, भयउ न भुअन भरत सम भाई ॥

भरत राम के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राम तो छोटे भाइयों

अपराध पर कभी ध्यान नहीं देते तथा खेल में भी उन्हें प्रसन्न रखने के लिए अपनी
ाजय मान लेते हैं। प्रेमसिक्त राम के प्रति भरत प्रेम-प्यासे ही रहते हैं। भरत
्ते हैं—

मैं जानऊँ निज नाथ सुभाऊ, अपराधिहु पर कोह न काऊ।
मो पर कृपा सनेहु विसेखी, खेलत खुनिस न कवहूँ देखी।
सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू, कवहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीतिजियँ जोही, हारेहु खेल जितावहिं मोही॥
महूँ सनेह सकोच वस सनमुख कही न वैन॥
दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन॥

भरत श्रीराम-प्रेमरूपी स्वाति के तृषित चातक हैं। भाइयों के प्रति ही नहीं,
म, सावधान होकर, सवका ही सम्मान करते हैं। "सावधान सवही सनमानहिं,
कल सराहत कृपानिधानहिं।" सभी कहते हैं कि राम का लड़कपन से यह स्वभाव
कि वे प्रेम को पहिचान कर प्रेम का मान करते हैं। राम शील, संकोच के सिंधु
तथा उनका स्वभाव सरल है। राम का शील-सौन्दर्य उनके रूपसौन्दर्य से कहीं
धक है। उनका स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति को वरवस ही सदा के लिये उनका वना
ो है—

लरिकाई ते रघुवर वानी, पालत नीति प्रीति पहिचानी।
सील सकोच सिंधु रघुराऊ, सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ॥

महापुरुषों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने से छोटों को आदर देते
। अग्नि धूम्र को तथा पर्वत तृण समुदाय को सिर पर ही धारण करते हैं। राम
भी यह विशेपता है—

प्रभु अपने नीचहु आदरही, अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरही।

राम समर्थ होकर भी गुरुजन, पुरजन, परिजन, विशिष्ट जन आदि के सामने
ा में अपने शील और संकोच से सभी को मुग्ध कर देते हैं। अतः सव उनके स्वभाव
सराहना करते हैं।

सील सराहि सभा सव सोची, कहुं न राम सम स्वामि संकोची॥

जव भरत पुरजन, परिजन, गुरुजन सहित, राम की पादुका लेकर लौट जाते
तव वन में सीता का हरण राम को क्लेश में डाल देता है। उदारचित्त राम
ायु के मरने पर अपने हाथों से उसकी श्राद्ध आदि क्रियाएँ करते हैं। कोमल चित
ते दीन दयाला, कारण विनु रघुनाथ कृपाला।

शूरवीर राम, प्राणोत्सर्ग करते हुए जटायु से कहते हैं कि वह स्वर्ग में राजा
रथ से सीता हरण की चर्चा न करे क्योंकि युद्ध में पराजित एवं विहत रावण
यं ही उनसे समाचार कह देगा।

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाई ॥
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आई ॥

विभीषण के शरण में आने पर राम ने उसे "लंकेश" घोषित कर उसका राजतिलक कर दिया तथा इस उदारता का कुछ गर्व नहीं किया। उदारमना राम ने लंकादान को भी न्यून मानकर राजतिलक के समय संकोच का अनुभव किया।

जो संपति सिव रावनहि दीन्ह दिए दस माथ ॥
सोई सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

शुक नामक रावणदूत ने राम के सुन्दर स्वभाव से प्रभावित होकर रावण से राम की प्रशंसा में कहा—राम समर्थ होकर भी स्वभाव में अति कोमल हैं तथा शरणागत के अपराध पर ध्यान नहीं देते हैं।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ, जद्यपि अखिल लोक कर राऊ ॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहो, उर अपराध न एकउ धरिही ॥

सेतुबन्धन के समय राम ने समुद्र की धृष्टता पर रोष प्रकट किया और धनुष चढ़ा लिया। समुद्र में अन्तर्ज्वाला जाग उठी। विकल होकर समुद्र ने क्षमा याचना की—"छमहु नाथ सब अवगुन मेरे।" राम ने उसे तुरन्त क्षमा प्रदान करने में देर नहीं की।

राम की चारित्रिक महानता अपने दूत अंगद से नीति कथन के संदर्भ में स्पष्ट झलकती है। राम शत्रु का भी अहित नहीं चाहते हैं और विवश होकर ही युद्ध करते हैं। राम अंगद से कहते हैं कि वह रावण से इस प्रकार वार्ता करे कि उनका काम बन जाये और उसका भी हित हो—

काजु हमार तासु हित होई, रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

युद्ध में अपने अनुज लक्ष्मण के आहत होने पर जब राम विकल हो गये, वे लक्ष्मण के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं—

*मम हित लागि तजेहु पितु माता, सहेहु बिपिन हिम आतप बाता।*

संजीवनी बूटी आने में विलम्ब होने पर स्वभाव से अतिकोमल राम अधीर हो उठे। विलाप करते हुए उन्होंने कहा—तुम्हारी माता ने तुम्हें मुझे सौंप दिया था, मैं अब उसे क्या उत्तर दूंगा? मुझे उठकर यह तो बता दो।

सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी, सब विधि सुखद परम हित जानी।
उतरु काह दैहउं तेहि जाई, उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥

लंका में युद्ध के समय राम के पास रावण के सदृश आवश्यकता के अनुरूप रथ नहीं है। वे आध्यात्मिक शक्ति से रावण की शस्त्र-सुसज्जित सेना का सामना करते हैं। राम धर्मरथ का वर्णन करते हैं। शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं। सत्य और शील (सदाचार) उसकी ध्वजा और पताका हैं। बल, विवेक, इन्द्रिय-संयम

और परोपकार चार घोड़े हैं। ये क्षमा, दया और समता रूपी डोरी से रथ में जुड़े हुए हैं। ईश्वर भजन चतुर सारथि है। वैराग्य ढाल और सन्तोष तलवार है। दान फरसा और बुद्धि शक्ति है। श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है। निर्मल और अचल मन तरकस है। मनोनिग्रह, यम और नियम अनेक बाण हैं। विद्वानों और गुरुजनों का सम्मान करना कवच है। शत्रु पर विजय का यही श्रेष्ठ उपाय है। बलशाली रावण पर राम की विजय का रहस्य उनकी चारित्रिक उत्कृष्टता है। परम सत्वगुणी राम की आतंकवादी, तमोगुणी रावण पर विजय, 'सत्यमेव जयते नानृतम्', [सत्य की जय होती है, असत्य की कदापि नही] का प्रतीक है।

युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् राम अपने अनुज भरत की वियोग दशा का स्मरण करके अयोध्या लौटने के लिये आतुर हैं। एक मार्मिक चित्र है—

**बीते अवधि जाउं जौं जिअत न पावऊँ वीर।**
**सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥**

राम युद्ध में विजय का श्रेय स्वयं न लेकर वानरादि को देते हैं। यह उनकी निरभिमानता एवं विनम्रता की चरम सीमा है। राम विजयश्री के लिये उन्हें यश देते हुए मृदुल वचन कहते हैं—

**चितइ सबन्हि पर कीन्ही दाया, बोले मृदुल वचन रघुराया।**
**तुम्हरे बल मैं रावनु मार्‌यो, तिलक विभीषण कँह पुनि सार्‌यो॥**

राम वानरादि को प्रेम पुलकित होकर सादर विदा करते हैं।

पुष्पक विमान में आरूढ़ होकर, राम सीता को रणस्थल दिखाते हुए भी लक्ष्मण, हनुमान, अंगद आदि की वीरता की प्रशंसा करते हुए नहीं थकते—

**कह रघुवीर देखु रन सीता, लछिमन इहां हत्यो इन्द्रजीता।**
**हनुमान अंगद के मारे, रनमहि परे निसाचर भारे॥**

राम अपने पराक्रम के विषय में मौन रहते हुए कहते हैं कि कुंभकर्ण और रावण यहाँ मारे गये—

कुंभकरन रावण द्वौ भाई, इहां हते सुर मुनि दुखदाई॥

अयोध्या में जाकर राम गुरु वशिष्ठ को तथा वानरादि को ही विजय का श्रेय देते हैं तथा आत्मप्रशंसा नहीं करते हैं।

गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे, इन्ह की कृपा दनुज रन मारे।
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे, भए समर सागर कहँ बेरे।
मम हित लागि जनम इन हारे, भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

राम अपने भवन में जाने से पूर्व माता कैकेयी के भवन में जाकर अनेक प्रकार प्रबोध कर उसका परितोष करते हैं—

परम धर्म हो जाता है कि वह समाज के हित में धर्माचरण करे, सत्पथ पर आरूढ़ रहे और अपने त्याग एवं तपस्या के द्वारा जनता की सेवा करे तथा सच्चरित्रता का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करे। लोक कल्याण में हीउस का कल्याण भी निहित होता है।

राजा (अथवा शासक) के त्यागपूर्ण एवं परोपकारी जीवन से धीरे-धीरे उसे धवलकीर्ति प्राप्त हो जाती है और कुछ समय के पश्चात् उसका नाम उससे भी वढ़कर प्रभावोत्पादक हो जाता है। लोकभाषा में कहा जाता है कि राजा का प्रताप (इकवाल) राज्य में न्याय, नीति और मर्यादा की रक्षा करता है; पुण्यकर्म को प्रोत्साहन देता है तथा पापकर्म को रोकता है। राजदण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली राजा का प्रताप होता है।

रामराज्य के आदि प्रणेता राम का यशोगान युग-युगान्तर में होता ही रहेगा। मानस के राम एक निरंकुश राजा नहीं हैं, तपोमूर्ति हैं, त्यागमूर्ति हैं और प्रजाहित उनके लिये सर्वोपरि है। राम प्रजा के लिये ही जीते हैं और उनकी दिनचर्या एवं कर्म का आधार परोपकार है, सेवा है, तपस्या है। "राजा राम" का अर्थ है कल्याणकारी एवं रक्षक राम, जनत्राता राम, जन सेवक राम, आर्त्तजन की पीड़ा हरने वाले राम। "राम की जय" का अर्थ है, प्रजा की जय, पुण्य की जय, न्याय की जय, और सत्य की जय। राम अपने श्रेष्ठ चरित्र, त्याग तथा तपस्या के द्वारा पवित्रता, त्याग एवं तप के अमर प्रतीक हो गये हैं। "राम" शब्द ही शान्ति प्रदायक हो गया है। कालान्तर में रामनाम इतना लोकप्रिय हो गया कि समाज ने "राम-राम" कहकर परस्पर अभिवादन करना प्रारम्भ कर दिया और "राम-राम" कहने का द्योतन है परस्पर मंगलकामना का आदान-प्रदान, परस्पर सद्भावना का व्यवहार एवं सत्य का आचरण।

किसी भी दिशा में निर्माण का आधार सदैव साधना, त्याग और तपस्या होते हैं। शासन प्रणाली किसी भी प्रकार की हो, शासकों का त्याग और तपस्या ही प्रजा की समृद्धि, सुख और शान्ति का कारण होते हैं। यह एक ध्रुव नियम है कि परिवार, संस्था अथवा राष्ट्र में समस्त प्रगति, समृद्धि एवं सुरक्षा का मूल आधार उसके नायकों की चारित्रिक उत्कृष्टता होता है। जहाँ स्वार्थ एवं भोगवृत्ति का प्रावल्य हो, वहाँ निर्माण संभव नहीं होता। वृक्षारोपण करने वाले व्यक्ति को स्वयं ही फलभोग की कामना नहीं करनी चाहिये। वृक्ष कोई एक लगाता है और फल अन्य जन प्राप्त करते हैं।

यदि राज्यनायक त्यागवान् एवं चरित्रवान् होते हैं तो अनेक उत्तम जन आकृष्ट होकर उनके चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं तथा उनके प्रभाव से असंख्य प्रजाजन चरित्रवान् वन जाते हैं। राम के साथ उनसे आकृष्ट उनके श्रेष्ठ भाई भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न थे तथा राम के प्रभाव से सुग्रीव, निषाद, जटायु, विभीषण आदि श्रेष्ठ बनकर सहयोग देने लगे। यह सन्मार्ग-ग्रहण का फल होता है, पुण्य की शाखा सदैव पुष्पित एवं पल्लवित होती है।

राजा के पुण्य प्रताप से प्रजा में सुख-समृद्धि छा जाती है। राम के प्रताप से समाज में विषमता समाप्त हो गई।

"बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

राम राज्य में सब नर-नारी परस्पर प्रेम करते हैं और स्वधर्म पालन करते हैं; कर्त्तव्य परायण हैं।

"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म विरत श्रुति नीति॥

तपस्वी राजा राम के प्रताप से प्रकृति भी सहायक सिद्ध होती है। राम राज्य धर्म राज्य है।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज वयरु विसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति वढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना वृंदा। अभय चरहिं वन करहिं अनन्दा॥
सीतल सुरभि पवन वह मंदा। गुँजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता विटप मांगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भई कृतजुग कै करनी॥
प्रकटी गिरिन्ह विविध मनि खानी। जगदातमा भूप जगजानी॥
सरिता सकल वहहिं वर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिशा विभागा॥

**विधु महि पूर मयूखन्हि रवि तप जेतनेहि काज।**
**मांगे वारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज॥**

राम राज्य में तपस्वी राजा राम के प्रताप से सब ओर सुख-सम्पन्नता है।

राम का समस्त जीवन त्याग, कठोर संयम, कष्ट-सहिष्णुता तथा मूक किन्तु सहर्ष विपत्ति सहन की वेदनापूर्ण कहानी है। राम कर्तव्य को ऊँचा समझते हैं और कहीं भी अधिकार की माँग नहीं करते हैं। कर्तव्यपरायण राम कर्तव्यपालन के मार्ग में कठोर तपस्या करते हैं तथा कभी कष्टों से घबराते नहीं हैं। कर्तव्य-पथ के राही राम के लिये कर्तव्य पुनीत मार्ग है तथा कर्तव्य ही लक्ष्य है।

प्रारम्भ से ही राम की शिक्षा-दीक्षा भी ऐसी ही हुई कि परोपकार और सेवा जीवन का परम आदर्श वन गये तथा लोकरंजन के लिये उन्होंने यातना एवं यंत्रणा को सहर्ष सहन करना अपना स्वभाव वना लिया। त्याग उनके जीवन का शृंगार-भूत अंग हो गया।

त्याग ऐसी होमाग्नि है जिसमें आत्माहुति देकर मनस्वी अपने को दग्ध कर लेता है किन्तु दूसरों को प्रकाश देता है तथा उनका पथ-प्रदर्शन करता है। यह अग्नि उसे भस्मसात् कर देती है किन्तु उसकी भस्म भी दूसरों को शीतल करती है और मार्मिक घावों के लिये अमोघ औषधि बन जाती है। दीपवर्तिका

अपना देह फूंक कर ही अन्धकार को चीरती है तथा भटके हुए लोगों को राह सुझाती है। सूर्य स्वयं तप कर ही जगत् को आलोक एवं ऊर्जा प्रदान करता है। यह है त्याग एवं तप की महिमा।

अपने प्राणों की बाजी लगाकर समाज में आदर्शों एवं मूल्यों की रक्षा करने वाले व्यक्ति इने-गिने ही होते हैं। कटु आलोचना, मिथ्या दोषारोपण, गाली, बरछी और सूली भी उनके मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकते हैं। आदर्शों की प्रस्थापना के लिये जीने और मरने वाले, आदर्शों के लिये आत्मसमर्पित तथा आदर्शों को अपना सर्वस्व मानने वाले, वीतराग महामानव सुदुस्तर संकटों का सहर्ष सामना करते हैं और कभी विचलित नहीं होते। गंगा की पावन जलधारा की भाँति उनकी यशोगाथा अनन्त काल तक प्रवाहित होती रहती है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

"न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।" कोई भी शुभ कर्म करने वाला व्यक्ति कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है। राम कहते हैं—

"परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहं जग कछु दुर्लभ नाहीं।"

विश्वामित्र किशोर राम को लक्ष्मण सहित वन ले जाते हैं जहाँ वे यज्ञविध्वंसक राक्षसों का वध करते हैं और ऋषि-मुनि समुदाय को निश्चिन्त कर देते हैं। परदुःख-कातर राम विश्वामित्र के संकेत पर आत्मग्लानि से जड़ अहल्या का भी उद्धार करते हैं।

विवाह सम्पन्न होने पर राम का राज्याभिषेक नहीं होता है तथा राम को उन्हीं की नगरी अयोध्या से निर्वासित कर दिया जाता है। राम राज्य के उत्तराधिकारी हैं किन्तु वे अपने अधिकार के लिये संघर्ष नहीं करते हैं बल्कि माता-पिता की आज्ञा मानकर कठोर कर्तव्य का पालन करते हैं। सौतेली माता के अन्यायपूर्ण संकेत पर ही प्रसन्नचेता राम वनगमन करते हैं—राम को राज्य छोड़ना खेल प्रतीत होता है और उन्हें विश्वास नहीं होता कि पिता इतनी छोटी सी बात से दुखी हो गये। "थोरिहिं बात पितहि दुःख भारी। होति प्रतीत न मोहि महतारी॥" एक तरुण जिसका राज्याभिषेक होने वाला है, समस्त वैभव एवं सत्ता के प्रलोभन से ऊपर उठकर सहर्ष वनगमन को अंगीकृत कर लेता है। "राजीव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।" युवराज राम किसी को दोष नहीं देते हैं तथा कौशल्या से कहते हैं कि पिता ने उन्हें राज्य दिया है—कानन का राज्य। "पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जंह सब भाँति मोर बड़ काजू॥ लक्ष्मण आवेश में सुमन्त्र के समक्ष दशरथ को दोष दे देते हैं किन्तु पितृभक्त एवं अनुजवत्सल राम उसे सौगन्ध देते हैं कि वह पिता से कुछ न कहें।

तपस्वी युवराज के छोटे भाई भरत उन की भाँति त्यागमूर्ति हैं। भरत वन में जाकर राम से अयोध्या लौटने का आग्रह करते हैं। राम सत्ता के भूखे नहीं हैं और वे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते हैं। "नाहिन राम राज के भूखे। धरम धुरीन विषय रस रूखे।" राम वन में ही रहते हैं। तपस्वी राम के प्रभाव से उनके छोटे भाई भी दृढ़ तपस्वी हैं। "लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु

कसहीं ॥"

सीता की प्रसन्नता के लिये राम अपनी इच्छा के प्रतिकूल हेममृग को मारने के लिये स्वयं जाते हैं और उन्हें वन में भी प्रियावियोग का भीषण कष्ट मिलता है। केवल लक्ष्मण ही उनके साथ रह जाते हैं। विरह अवस्था में राम खग मृग से सीता का पता पूछते हैं। "हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।" राम को वन में भी घोर कष्ट सहन करना पड़ता है।

सीता की खोज करने में वे वानरों का सहयोग प्राप्त करते हैं, मैत्री का निर्वाह करने के लिये सुग्रीव के आग्रह पर वालि का वध करते हैं और अत्यन्त कठिनाई से लंका का पुल बांधते हैं। रावण के साथ युद्ध में राम के पास रथ तथा पदत्राण भी नहीं है। "रावण रथी, विरथ रघुवीरा। देखि विभीषण भयउ अधीरा।" तपस्वी राम के पास तो उनका पुण्य प्रताप है जिससे वे शत्रु कटक पर विजय पाते हैं। सत्य की विजय होती है, शस्त्र-सुसज्जित सेना की विजय नहीं होती है। वानर सेना तो प्रतीक मात्र है, अकेले राम ससैन्य रावण को पराजित कर देते हैं।

राम कहते हैं कि विजय उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जिसके पास धर्ममयरथ हो जिसमें शौर्य और धैर्य पहिये हों, सत्य और शील (सदाचार) दृढ़ ध्वजा और पताका हो; बल, विवेक, दम (इन्द्रिय संयम) और परोपकार चार घोड़े हों, क्षमा, कृपा और समता रज्जु हो, ईश्वर का भजन चतुर सारथि हो, वैराग्यभाव ढाल हो, सन्तोष कृपाण हो, दान फरसा हो, सद्बुद्धि प्रचण्ड शक्ति हो, श्रेष्ठ विज्ञान धनुष हो, निर्मल और निश्चल मन तरकस हो, शम (मन पर संयम), यम और नियम वाण हों, विद्वानों और गुरुजन की पूजा अभेद्य कवच हो। ऐसे धर्ममय रथ पर आरूढ़ व्यक्ति महा अजेय शत्रु को भी जीत सकता है। विजय तो तपस्यापूर्ण सत्याचरण की होती है और समस्त भौतिक शक्तियों का समुच्चय भी उससे परास्त हो जाता है। राम की विजय सत्य की विजय है। राम तो सत्य के प्रतीक हैं। सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्य की जीत होती है, असत्य की नहीं। राम की विजय सत्य के आधार पर युद्ध करने वाले वीरों के लिये सदैव प्रेरणाप्रद बनी रहेगी। राम पुण्यप्रेरक ज्योति-पुंज हैं।

राम ने रावण और उसकी पापमय शक्तियों को ध्वस्त करके उसका साम्राज्य उसके ही धर्मात्मा अनुज विभीषण को सौंप दिया। राम के युद्ध का उद्देश्य राज्य हड़पना नहीं था, वल्कि आततायी, अत्याचारी रावण का निर्मूलन करना, धर्मात्मा मित्र विभीषण के साथ मित्रता का निर्वाह करके वचन पूरा करना, सीता का संकट दूर करना और धर्म की संस्थापना करना था। पुरुषार्थ की सफलता एवं सार्थकता संकटग्रस्त जीवों के विपत्ति-निवारण में निहित होती है।

राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं, मर्यादापालक हैं। मर्यादा व्यक्ति एवं समाज दोनो के हित में होती है। उत्तम व्यक्ति स्वयमेव मर्यादा रेखा खींचते हैं तथा उसका कदापि उल्लंघन नहीं करते हैं। मर्यादा में रह कर नदी तट के वृक्षों को हरा-भरा

कर देती है तथा मर्यादा तोड़ कर वह विनाशलीला कर देती है। राम ने जीवन के विविध क्षेत्रों में मर्यादापालन का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया है।

राम के जीवन में अतिशय संघर्ष है, किन्तु वह स्वार्थसिद्धि के लिये नहीं है अपितु परोपकार के लिये है, कर्त्तव्य पालन के लिये है, आदर्शों एवं मूल्यों की प्रस्थापना के लिये है। राम का चरित्र विश्व के समस्त वाङ्मय में अप्रतिम है। ऐसे प्रेरणाप्रद चरित्र का चित्रण अन्यत्र नहीं होता। राम समस्त संघर्ष में खरे उतरते हैं। संघर्ष से उनके व्यक्तित्व में बल एवं दीप्ति आते हैं, निर्बलता नहीं। राम की चारित्रिक उपलब्धि एवं उत्कृष्टता यह है कि राम के लिये संघर्ष सहज है। राम, परिस्थितियों के अनुसार, सहज भाव से तथा प्रसन्नतापूर्वक कर्म करते हैं और उन्हें कहीं भी आशंका, भय अथवा चिन्ता छूते नहीं हैं। राम का शौर्य सात्विक एवं सहज है। अप्रत्याशित हित के लिये कैकयी का धन्यवाद देते हुए राम उसका भी उपकार मानते हैं। राम धर्म के विग्रहवान् रूप हैं। राम की उपासना तथा राम के गुणों की परिचर्चा मानव मात्र के लिये प्रेरणादायक एवं कल्याणकारक है।

## १७

# मानस में नारी

विश्व के अनेकानेक मनीषियों ने गोस्वामी तुलसीदास को संसार का महानतम एवं उत्कृष्टतम कवि सिद्ध करते हुए उनके काव्य की विलक्षणता का विविध प्रकार से उल्लेख किया है। तथापि, उनके विषय में कुछ भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं, विशेषतः उनके नारी सम्बन्धी विचारों के प्रश्न को लेकर। प्रायः अनेक आलोचक कह देते हैं कि तुलसी ने लिखा है—"**ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी,**" इत्यादि। वास्तव में ऐसी उक्तियों पर सन्दर्भपूर्वक विचार नहीं किया जाता है। हम भूल जाते हैं कि किसी काव्य अथवा नाटक में किसी उक्ति पर विचार करने से पूर्व यह देखना आवश्यक होता है कि वह किस पात्र की उक्ति है और किस प्रसंग एवं सन्दर्भ में है।

राम समुद्र से राह मांगते हैं, किन्तु तीन दिन बीतने पर भी मूर्ख समुद्र उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं करता है। तब राम सकोप कहते हैं। "**भय विनु होई न प्रीति।**" राम के धनुष चढ़ाने पर समुद्र में ज्वाला उठ गई और समुद्र के जीव-जन्तु विकल हो गये। समुद्र विप्ररूप धारण कर राम के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। सभय होकर समुद्र ने क्षमा मांगी। **सभय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे, छमहु नाथ सब अवगुन मेरे।** समुद्र ने कहा—हे राम! आपने अच्छा किया कि मुझे शिक्षा दे दी। अपना दोष स्वीकार करते हुए समुद्र ने घबरा कर कहा—"**ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।**" यह उक्ति समुद्र की है, जिसका परिचय देते हुए तुलसीदास कहते हैं—**विनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।** प्रत्येक पात्र के रंगमंच पर प्रवेश होने से पूर्व काव्य में कवि उसका परिचय देते हैं। यहाँ भी कवि ने समुद्र का परिचय दिया है और परिचय दिया "**जलधि जड़**" कह कर। कवि की दृष्टि में वह मूर्ख है। राम की दृष्टि में वह शठ है। राम कहते हैं—**सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुन्दर**

नीती ॥ राम उससे विनय कर चुके हैं जो निष्फल रही। "विनय न मानत जलधि जड़।" कथा के इसी प्रसंग में समुद्र के सम्बन्ध में कागभुशुंडि ने भी अपना मत प्रकट करते हुए उसे नीच कहा है। "विनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पहुँ नव नीच।" इस प्रकार "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी" उस पात्र का अपना कथन है जिसे कवि ने 'जड़', नायक राम ने 'शठ' और मुनि भूशुंडि ने 'नीच' कहा है। पात्र अपनी प्रमाणित जड़ता, शठता और नीचता के अनुरूप तथा सभय होकर अपना मत प्रकट कर रहा है। यदि किसी संवाद में कोई पात्र प्रमादवश असंगत शब्द कहता है तो हम उसे लेखक का मत नहीं कहते हैं।

यदि रामचरितमानस में नारी के सम्बन्ध में कहीं कुछ अपमानजनक शब्द कहे गये हैं, वे किसी श्रेष्ठ पात्र द्वारा नहीं कहे गये हैं। खलनायक रावण कहता है—"नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहहीं। साहस अनृत चपलता माया, भय अविवेक असौच अदाया।" दुर्मति रावण ने सीता को चुरा कर और मन्दोदरी की शिक्षा न मानकर नारी का अपमान किया।

राम शबरी का भी मान करते हैं जो मात्र एक असभ्य भीलनी है। वह विनम्रतावश अपने को दयनीय सिद्ध करते हुए कहती है। "अधम ते अधम अधम अति नारी, तिन्ह महं मैं मतिमंद गंवारी।" किन्तु राम उसके झूठे बेर खाकर उनकी सराहना करते हैं। "प्रेम सहित प्रभु खाए बार-बार बखानि।" राम उसे गौरव प्रदान करते हैं। "कह रघुपति सुनु भामिनी बाता, मानऊँ एक भगति कर नाता।"

बालि का वध करने पर मानस के नायक राम उससे कहते हैं—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना, नारि सिखावन करसि न काना।" नारी की शिक्षा न मानना मूढ़ता है, अतिशय अभिमान है। राम ने तो मारीच के कपट को पहिचान कर भी सीता की इच्छा पूर्ण करने के लिए धनुष उठा लिया और अकल्पनीय संकट सहन किया। "तब रघुपति जानत सब कारन, उठे हरषि सुर काजुसवारन।"

तुलसी ने कौशल्या, सीता, अनुसूया, मन्दोदरी आदि के माध्यम से नारी के श्रेष्ठ रूप का चित्रण किया और उसे अर्चनीया सिद्ध किया है। ग्रियर्सन ने तुलसी द्वारा सीता के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में कहा है कि सीता एक पूर्ण नारी है जिसकी चारित्रिक परिकल्पना परम उदात्त है। विश्व के साहित्य में किसी अन्य नारी का चित्रण ऐसा भव्य नहीं है, जैसा सीता का। तुलसी ने नारी को अर्चनीया मान कर कहीं अश्लील अथवा अभद्र शृंगारिक वर्णन नहीं किया है। पार्वती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं, "सुन्दरता मरजाद भवानी, जाइ न कोटिहु बदन बखानी।" तुलसी पार्वती का शृंगारवर्णन नहीं करते हैं। "जगत मातु-पितु संभुभवानी, तेहि सिंगार न कहुऊँ बखानी।" इसी प्रकार सीता के सम्बन्ध में तुलसी कहते हैं, "सोह नवल तनु सुन्दर सारी, जगत जननि अतुलित छवि भारी।" सीता के सौंदर्य का वर्णन करते हुए तुलसी पुनः कहते हैं, "सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छविगृह दीप सिखा

जनु बरई। सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पठतरौं विदेह कुमारी।" सीता "सहज पुनीत" हैं और उनका दर्शन सभी के हृदय को पावन करता है, विश्व के अन्य प्रमुख महाकाव्यों की नायिकाओं की भांति वासना जगाकर मन को कुलपित नहीं करता है। "सिय सुँदरता बरनि न जाई, लघुमति बहुत मनोहरताई।" "आवत देखि बरातिन्ह सीता, रूप रासि सब भाँति पुनीता।" सीता रूपराशि होकर भी सब प्रकार पुनीत हैं। स्वयं रावण भी अशोक वाटिका में उनके पास अकेला आने का साहस न कर सका। उनकी पुनीतता में एक अनिर्वचनीय शक्ति है, तेज है, ओज है। सीता का स्वरूप, सीता का व्यवहार, सीता का चरित्र, सभी उज्जवल है। समुज्ज्वला सीता का चरित्र-चित्रण नारीत्व के चरम विन्दु को स्पर्श कर देता है।

तुलसी पर नारी के अपमान का दोषारोपण करना तथ्यात्मक नहीं है। तुलसी की दृष्टि में नारी उदात्त है, अर्चनीया है।

तुलसी का रामचरितमानस एक वाटिका है जिस में अनेक प्रकार के पुष्प खिल रहे हैं और चतुर्दिक् सौरभ प्रसारित करते हैं। जो पुष्प रुचिकर प्रतीत होते हों, उनका चयन कर लें और रसास्वादन करें। कुछ अरुचिकर प्रसंगों के कारण समस्त ग्रंथ की अवहेलना अथवा निन्दा करना अविवेक है।

१८

# मानव में भक्ति दर्शन

भगवान् की मंगलमय सत्ता को स्वीकार कर लेने पर उनके साथ एक नाता जोड़ना जीव का स्वार्थ और परमार्थ दोनो ही हैं। ज्ञान तथा योग के द्वारा प्रभु की दिव्यता की अनुभूति होना अवश्य संभव है किन्तु संतों ने भक्ति के द्वारा प्रभु के साथ आत्मीयता का नाता स्थापित करके प्रभु कृपा प्राप्त करना ही वरणीय माना है। भगवत्कृपा सदा सुलभ है और सब उसके अधिकारी हैं। भगवान् की भक्तवत्सलता संतों को मुग्ध कर देती है। प्रेमास्पद प्रभु ही भक्तों के लिये सर्वस्व होते हैं। प्रभु को जो जैसा भजते हैं, उन्हें वैसा ही प्रभु-प्रसाद प्राप्त होता है। भक्ति भगवान् को प्राप्त करने का सरल एवं सुगम साधन है। प्रभु को भक्ति का नाता परम मान्य है। 'मानऊं एक भगति कर नाता।' प्रभु को तर्क से प्राप्त नहीं कर सकते। 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।' 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।' अप्रमेय प्रभु भक्तिभाव द्वारा सरलता से सुलभ हो जाते हैं।

भक्त भगवान् को अपना जीवन समझता है तथा वह भगवान् के लिए ही प्राण धारण करता है, समस्त क्रिया कलाप करता है तथा भगवान् के गुण, तत्व, लीला, रहस्य आदि का ध्यान एवं चर्चा करते हुए भगवान् की अनवरत, अपार, अनन्त कृपा को प्राप्त कर लेता है। भक्त प्रत्येक घटना के पीछे प्रभु की सत्ता का संदर्शन करता है, सर्वत्र और सब काल में अहैतुकी प्रभुकृपा की अनुभूति करके कृतज्ञता के भाव में गद्गद हो जाता है।

भगवान् सर्वव्यापक हैं, जीव को पूर्ण सुख शांति, संबल और कैवल्य प्रदान करने में सक्षम हैं। प्रभु के साथ तादात्म्य स्थापित करना जीव की कृतकृत्यता है। प्रभु करुणासागर हैं, कृपासिन्धु हैं। 'कृपा अम्बुनिधि अंतरयामी।' भक्त की व्यथा प्रभु से सहन नहीं होती है और वे दयार्द्र होकर आतुरता से उसकी रक्षा करते हैं। 'सीमकि चापि सकै कोई तासू, बड़ रखवार रमापति जासू।' समर्थ प्रभु की शरण में जाकर भय एवं विषाद स्वयं निर्मूल हो जाते हैं। 'समरथ सरनागत हितकारी, गुनगाहक अवगुन अघहारी।' समर्थ प्रभु का भजन भक्त को सुधन्य कर देता है।

"जो चेतन कंह जड़ करइ जड़हि करई चैतन्य, अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य।' प्रभु सामर्थ्य अनन्त है। 'मसकहि करई विरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।' प्रभु सहज ही गरल को सुधा, गोपद को सिन्धु बना सकते हैं। 'गरल सुधा रिपु करैं मिताई, गोपद सिन्धु अनल सितलाई।'

भगवद्कृपा भक्त के लिये सदा सुलभ है। प्रभु समर्थ होकर भी कोमलचित्त एवं करुणार्द्र हैं। जिसने एक बार प्रभु का स्वभाव जान लिया, उसे प्रभु परमप्रिय प्रतीत होने लगते हैं। 'उमा राम स्वभाव जिन जाना, ताहि भजनु तजि भाव न आना।"

प्रभु शरणागत के साथ सदा प्रीति-निर्वाह करते हैं। 'गिरिजा रघुपति कै यह रीति, सन्तत करहिं प्रनत पर प्रीति।' प्रभु भक्त के प्रेम को पहिचानते हैं। 'विनय सुनत पहिचानत प्रीति।' प्रभु आपन्न भक्त की भूल पर ध्यान न देकर उसके भाव का आदर करते हैं। 'रहति न प्रभु चित चूक किये की, करत सुरति सौ बार हिये की।' प्रभु सदा भक्त की भक्ति के वश में रहते हैं। 'रघुपति भगत भगति वस अहहीं।' प्रभु अपने नीच को भी आदर देते हैं। 'प्रभु अपने नीचहु आदरहीं, अगिनि घूम गिरि सिर तनु धरहीं।' संसार में तिरस्कृत दीन जन प्रभु के प्रिय हैं। 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।' प्रभु के स्वभाव की एक विशेषता यह है कि अनन्य भाव से उपासना करने वाला भक्त उन्हें परम प्रिय होता है। 'एक बान करुणा निधान की, सौ प्रिय जाके गति न आन की।' यद्यपि प्रभु समदर्शी हैं तथापि भक्त के प्रति विशेष भाव रखते हैं। 'समदरसी मोहि कंह सब कोऊ, सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।' प्रभु के सदृश संसार में अन्य कोई भी हित संपादन नहीं कर सकता। 'उमा राम सम हित जग माहीं, गुरु पितु मातु वन्धु प्रभु नाहीं।' प्रभु सेवक से सदा प्रीति करते हैं। 'सुनहु विभीषण प्रभु कै रीति, करहिं सदा सेवक पर प्रीति।' यों तो सभी सेवक पर प्रीति करते हैं किन्तु प्रभु तो अतिशय प्रीति करते हैं। 'सबके प्रिय सेवक यह नीति, मोरे अधिक दास पर प्रीति।' प्रभु को अत्यन्त नीच भक्त भी परम प्रिय हैं। 'भगति वंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रान सम असि मम बानी।' किन्तु पवित्र मन होने पर ही सेवक प्रभु का प्राणप्रिय होता है। 'सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।' प्रभु के कोमल स्वभाव के सदृश कोमल स्वभाव अन्यत्र कहीं नहीं है। 'कोमल चित कृपाल रघुराई'. 'कोमल चित अति दीनदयाला, कारन बिनु रघुनाथ कृपाला। अस सुभाउ कहुं सुनऊं न देखऊं, केहि खगेस रघुपति सम लेखऊं।' प्रभु भक्त के हृदय में पापमूल अभिमान को पनपने नहीं देते हैं तथा उसे नष्ट करके भक्त को उदात्त बना देतें हैं। यह प्रभु का सहज स्वभाव है।

'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ, जन अभिमान न राखहिं काऊ।
संसृत मूल सूलप्रद नाना, सकल सोक दायक अभिमाना।

ताते करहिं कृपानिधि दूरी, सेवक पर ममता अति भूरी।
जिमि सिसु तन व्रन होई गोसांई, मातु चिराव कठिन की नाईं।
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर।
तिमि रघुनाथ निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसीदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि।'

प्रभु कृपा से असंभव भी संभव हो जाता है। 'मूक होंहि वाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन, जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन।' प्रभु कृपा से मति निर्मल हो जाती है। 'जनक सुता जग जननि जानकी, अतिशय प्रिय करुना निधान की। ताके युगपद कमल मनाऊं जासु कृपा निर्मल मति पाऊं।'

राम कृपा से विघ्न बाधक नहीं होते हैं। 'सकल विघ्न व्यापहि नहीं तेही, राम सुकृपा बिलोकहिं जेही।' प्रभु कृपावारिधि हैं। 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।' प्रभु कृपा से मनुष्य चतुर एवं सुजान हो जाता है तथा शारदा उसकी वाणी में बस जाती है। 'सारद दारुनारि सम स्वामी, राम सूत्रधर अंतरजामी। जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी, कवि उर अजिर नचावहिं बानी।' मन, वचन, कर्म से भक्ति करने पर प्रभु कृपा सुलभ हो जाती है। 'मन क्रम वचन छाड़ि चतुराई, भजत कृपा करि-हहि रघुराई।' प्रभु की दया से विना प्रयास ही विकारमुक्ति हो जाती है तथा प्रभु की अनुकूलता होने पर माया प्रहार नहीं कर सकती है। 'क्रोध मनोज लोभ मदमाया, छूटहिं सकल राम की दाया। सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला, जा पर होइ सो नट अनुकूला।' प्रभु कृपा के बिना माया नहीं छूटती है। 'सो दासी रघुवीर कै समुझें मिथ्या सोपि, छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहऊं पदरोपि।' प्रभु कृपा से ही मिथ्या जगत् से अभिनिवेश छूटता है तथा माया से छूटने का एकमात्र उपाय प्रभु कृपा ही है। 'मुधा भेद जदपि कृत माया, बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।' प्रभु कृपा से ही प्रभु की प्रभुता का ज्ञान होना संभव है। 'राम कृपा बिनु सुनु खगराई, जानि न जाइ राम प्रभुताई।' प्रभु कृपा से ही मन को शांति एवं विश्राम प्राप्त होते हैं। 'राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विश्राम।' प्रभु कृपा से ही भक्ति चिन्ता-मणि प्राप्त होती है। 'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई, राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।' राम कृपा से समस्त मानस एवं शारीरिक रोग मिटते हैं। 'राम कृपा नासहिं सब रोगा।' प्रभु कृपा के विना मुदमंगलमूल सत्संगति भी प्राप्त नहीं होती। 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन, बिनु हरि कृपा न होई सो गावहि वेद पुरान।' प्रभु कृपा से ही पुण्योदयकारक सन्तदर्शन होता है। 'बिनु हरि कृपा मिलहि नहिं सन्ता।' प्रभु की कृपा होने पर जीव को दुर्लभ मनुष्य शरीर

प्राप्त होता है। (दुर्लभं मानुषं जन्म) और अति कृपा होने पर वह प्रभु की ओर उन्मुख होता है। 'अति हरि कृपा जाहि पर होई, पांव देई यहि मारग सोई।'

प्रभु सच्चिदानन्द होते हुए भी भक्तों के लिये लीला करते हैं। 'एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानंद परधामा। व्यापक विस्वरूप भगवाना, तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन हित लागी, परम कृपाल प्रनत अनुरागी।' प्रभु ने भक्तों के लिये नर तनु धारण किया। 'राम भगत हित नर तनु धारी।' भक्त कृपा-सिन्धु प्रभु का यश गाकर भवसागर पार करते है। 'सोई जस गाइ भगत भव तरहीं, कृपा सिन्धु जन हित तनु धरहीं।' प्रभु भक्तों के लिये कल्पतरु हैं। 'भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिन्धु सुखधाम।'

(भगवान् रसात्मक है। रसो वै सः। भक्तिरस अलौकिक एवं विलक्षण है। प्रेमस्वरूप भगवान और प्रेम रस (अथवा भक्ति रस) का परस्पर सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा सूर्य और धूप का है। विट्ठलनाथ के पठान शिष्य रसखान कहते हैं—'प्रेम हरि कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप। एक होइ द्वै यों लसैं ज्यों सूरज अरु धूप।' जीव ब्रह्म का अंश है और यह जगत् उसकी लीला का विस्तार है। मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति के द्वारा प्रभु की रसात्मकता का अनुभव करता है तथा भौतिक स्तर पर जगत् के रूप में प्रभु लीला का दर्शन करता है।)

भक्ति संत समाज में गंगा की भांति प्रवाहित होती है। 'राम भक्ति जहं सुरहरि धारा।' भक्ति से प्रभु प्रसन्न होते हैं। 'रीझत राम सनेह निसोते।' प्रभु भक्त के मनोगत भक्तिभाव से ही रीझ जाते हैं। 'रीझत राम जानि जन जी की।' प्रभु सच्ची भावना से सुलभ हो जाते है। 'निगम अगम साहब सुगम राम सांचली चाह, अम्बु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह।' 'भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः भक्तिप्रियो माधवः।' भक्ति से ही ज्ञान की शोभा है। 'सोह न रामप्रेम विनु ग्यानू, करनधार विनु जिमि जलयानू।' भक्ति से प्रभु वेग ही द्रवित होते हैं तथा ज्ञान-विज्ञान भक्ति के अधीन हैं। 'जाते वेगि द्रवऊं मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई। सो सुतंत्र अवलम्ब न आना, तेहि आधीन ग्यान विज्ञाना।' भक्ति के विना मनुष्य की शोभा नहीं है।' भगतिहीन नर सोहइ कैसा, विनु जल वारिद देखिअ जैसा।' भक्ति से ही मन के विकार धुलते हैं। 'प्रेम भगति जल विनु रघुराई, अभि अन्तर मल कवहुँ न जाई।' भक्तिमान् मनुष्य ही वास्तव में पंडित तथा गुणवान् होता है। 'सोई सर्वग्य तग्य सोई पंडित, सोई गुन गृह विज्ञानअखंडित। दच्छ सकल लच्छन जुत सोई, जाके पदसरोज रति होई।' भक्ति से ही प्रभु प्राप्ति होती है। 'मिलहिं न रघुपति विनु अनुरागा, किए जोग तप ग्यान विरागा।' भक्ति के विना समस्त गुण सारहीन हैं। 'भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे, लवन विना वहु विंजन जैसे।' भक्ति से प्रभु वश में आ जाते हैं। 'भाव वस्य भगवान सुख निधान करुणा भवन।' तीर्थ, जप, योग आदि का उद्देश्य भक्ति भाव को पुष्ट करना है। 'जप तप मख सम दम

व्रत दाना, विरति विवेक जोग विज्ञाना। सब कर फल रघुपति पद प्रेमा, तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा।' वास्तव में अन्ततोगत्वा भक्ति तथा ज्ञान में अभेद है। 'भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा, उभय करहिं भव सम्भव खेदा।' भक्तिचिन्तामणि से अविद्या मिट जाती है, विष अमृत हो जाता है, खलरूपी कामादि विकार दूर हो जाते हैं, शत्रु मित्र हो जाते हैं तथा उसके विना सुख नहीं मिलता है। 'गरल सुधा सम अरि हित होई, तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई। व्यापहिं मानस रोग न भारी, जिन्ह के बस सब जीव दुखारी। राम भगति मनि उर बस जाके, दुख लवलेस न सपनेहुं ताके।' भक्ति सब सुखों की खान है। 'सब सुख खानि भगति।' सद्ग्रन्थों का मत है कि भक्ति के विना सुख प्राप्त नहीं होता। 'श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं, रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।' भक्ति संजीवनी बूटी है तथा प्राण संचार कर देती है। 'रघुपति भगति संजीवन मूरी, अनूपान श्रद्धा मति पूरी।'

प्रभुभक्ति के विना भवसागर पार होना कठिन है। 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।' योगी, तपस्वी, ज्ञानी, धर्मात्मा आदि कोई भी भक्ति के विना पार नहीं होता है। 'साधक सिद्ध विमुक्त उदासी, कवि कोविद कृतग्य सन्यासी। जोगी सूर सुतापस ग्यानी, धर्म निरत पंडित विज्ञानी। तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी, राम नमामि-नमामि-नमामी।' अतएव जो भक्तिमान् है, वही सर्वगुणसम्पन्न है। 'सोई सर्वग्य गुनी सोई ग्याता, सोई महि मंडित दाता। धर्मपरायण सोई कुल त्राता, रामचरन जाकर मन राता।'

सभी विवेकीजन प्रभु से भक्ति का वर माँगते हैं। भरत आर्त्त होकर प्रार्थना करते हैं—'जनम-जनम रति राम पद यह बरदान न आन।' वे रामचरण रति को ही परम साध्य मानकर उसका वर मांगते हैं। 'सीता राम चरन रति मोरे, अनुदिन बढइ अनुग्रह तोरे।' सुतीक्ष्ण प्रभु से 'अविरल भक्ति' माँगते हैं। सुग्रीव याचना करते हैं—'अब प्रभु कृपा करहु एहि भांती, सब तजि भजनु करौं दिनराती।' हनुमान निवेदन करते हैं—'नाथ भगति अति सुखदायिनी, देहु कृपा करि अनपायनी।' वेद बंदी रूप में प्रभु की स्तुति करते हैं तथा भक्ति का वर मांगते हैं। 'करुणायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह वर मांगही, मन वचन कर्म विकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं।' शिव भी भक्ति का वर माँगते हैं—'पद सरोज अनपायनी भक्ति सदा सतसंग।' सनकादि मुनि भी प्रभु की स्तुति करके भक्ति का वर माँगते हैं—'प्रेम भक्ति अनपायनी देहु हमहिं श्री राम।' वशिष्ठ मुनि दृढ़ भक्ति का वर मांगते हैं। 'जन्म-जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेह।' भक्त प्रवर मुनि भुशुंडि अविरल भक्ति का वर मांगते हैं—'अविरल भगति विशुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव, जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु कृपा कोई पाव। भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुख धाम, सोई निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।' भक्तों की दृष्टि में भक्ति मुक्ति की अपेक्षा सौ गुनी बढ़कर होती है। 'मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।'

भक्त प्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य पर आश्रित नहीं होता है। 'विश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे हो रहे।' श्रेष्ठ भक्त वही है जो किसी अन्य से कदापि

आशा नहीं करता। 'मोर दास कहाइ नर आसा, करइ तो कहहु कहा विश्वासा।' भक्त की गति केवल प्रभु ही है। 'जेहि गति मोर न दुसरि आसा।' भक्त को सब राममय प्रतीत होता है। 'उमा जे राम चरन रत विगत काम मद क्रोध, निज प्रभुमय देखहिं जगत केहिसन करहिं विरोध।' भक्त वास्तव में प्रभु से भी बड़ा होता है। 'मोरे मन प्रभु अस विश्वासा राम ते अधिक राम कर दासा।' वह निरन्तर भक्ति में निमग्न रहकर प्रभु के साथ एकरूप हो जाता है। 'राम भगति जल मम मन मीना।'

शरणागति के द्वारा भगवत्कृपा का अजस्र स्रोत उसकी ओर प्रवाहित होने लगता है। भगवत्कृपा, का हेतु शील, ज्ञान, वर्चस्व, बल नहीं है, शरणापन्नता है। भक्त को प्रभु के विधान की मंगलमयता की अनुभूति हो जाती है तथा वह विपत्ति में भी भगवत्कृपा का दर्शन करके प्रफुल्ल रहता है। सर्वसमर्थ प्रभु की शरण में आने की प्रेरणा देने वाली विषादमयी विपत्ति प्रच्छन्न वरदान सिद्ध होती है। 'क्रोधो ऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।' इष्ट देव का कोप भी वरदान के सदृश है। भक्त के लिये उसके दोषमूलक अभिमान पर आघात (अपमान प्रतीत होते हुए भी) भगवत्कृपा का द्योतक होता है। भक्त प्रत्येक परिस्थिति में (मिथ्या दोषारोपण, दारुण दुःख, घोर अपमान, हानि अथवा सत्कार, सम्मान, ऐशवर्य-विस्तार, लाभ इत्यादि में) प्रभु कृपा का अनुभव करता है। भक्त रोग को प्राकृतिक तप मानता है। स्वर्ण तपकर शुद्ध होता है, मनुष्य दुःख उठाकर निखर जाता है। दुःख में अहंकार नष्ट हो जाता है। अहंकार से मुक्त होकर भक्त प्रभु का यंत्र बन जाता है। कृष्ण के स्वर को अपना स्वर बनाकर नाद करने वाली मुरली कृष्ण के दिव्य अधर पर सुशोभित रहती है। अहंकारशून्य होने पर भक्त प्रभु के साथ आत्मसात् हो जाता है। उसके मन में ध्रुवनिश्चय होता है—मैं प्रभु का हूँ, प्रभु मेरे हैं। अपनेपन (आत्मीयता) का भाव भक्ति का सार है। 'वस्तुतस्तु त्वमेवाहं' मैं वास्तव में वही हूँ जो आप हैं। भक्त की दीनता कोई सांसारिक दयनीय अवस्था नहीं होती। दीनता का अर्थ है—अहंकार-शून्यता, उदात्तता, परमोच्चता। दीनता से दिव्यता प्राप्त हो जाती है और पाप एवं प्रारब्ध विगलित हो जाते हैं। भक्त की दीनता श्रेष्ठ दृढ़ता होती है। दीनता प्रेम की पूर्णता का द्योतक होती है। प्रेम की पूर्णता ही प्रभु की ओर उन्मुख होकर भक्ति-भाव में परिणत हो जाती है; प्रेम भावना का परिपाक भक्ति के रूप में होता है। संसार में तो प्रेम का निर्वाह मात्र होता है। कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मर्त्यलोके। संसार में छलरहित प्रेम विरल होता है। प्रेमास्पद प्रभु के साथ प्रेम अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। भक्तिभाव से आपूरित, प्रभुमय भक्त का प्रत्येक कर्म पूजा हो जाता है, उसके लिए प्रत्येक स्थान तीर्थ हो जाता है। प्रभु प्रेमोदधि हैं, भक्त उसकी दीप्तिमती उर्मि है। भक्ति नर से नारायण बनने का श्रेष्ठ साधन है। प्रभु के ऐश्वर्य-माधुर्य का संदर्शन भक्ति के द्वारा सहज ही हो जाता है। प्रभु अनन्त रस है, रससिन्धु है और भक्त उसकी मीन है। जैसे झषों, मछलियों को जल अभीष्ट है,

भक्त के लिये प्रभु अभीष्ट हैं। हरिर्हि साक्षाद् भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमिप्सितम्। (श्रीमद् भागवतम्)

भक्ति अपने में पूर्ण होती है। भक्ति से ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। 'भक्त्या मामभिजानाति।' भक्ति बौद्धिक चर्चा, व्याख्या, प्रवचन का विषय नहीं है, श्रद्धा-विश्वास से ही प्राप्य है। सिद्ध जन भी श्रद्धा-विश्वास के बिना स्वान्तस्थ ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते हैं। भगवद् भक्त सांसारिक पुरुषार्थ भी सहज भाव से करता है तथा दुःख सुख से बाधित नहीं होता। भक्ति की चरमावस्था होने पर लौकिक कर्म छूट जाते हैं। भक्त अपनी इच्छाओं को प्रभु इच्छा में विलीन कर देता है। मनुष्य की इच्छाएँ तो उसे भटका देती हैं क्योंकि वे अज्ञान-जन्य एवं मोह-जन्य होती हैं। भौतिक कामनाओं की पूर्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है। प्रभु-इच्छा में ही अपने कल्याण का संदर्शन करना भक्ति की पराकाष्ठा है। भक्त की सात्विक इच्छा भागवती इच्छा हो जाती है तथा भगवान् स्वयं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। प्रेम के ऊँचे धरातल पर पहुँचकर मनुष्य का स्वार्थ छूट जाता है और वह कामना से मुक्त हो जाता है। कामना रहित भक्त के संकल्प शुद्ध होते हैं और वे सहज ही पूर्ण हो जाते हैं। 'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।' परम भक्त के संकल्प तो दैवी संकल्प होते हैं और स्वतः पूर्ण हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रभु के समीप पहुँचता है, उसे दिव्यत्व प्राप्त होने लगता है। अन्ततोगत्वा भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं, जीव और परमात्मा का अद्वैत अथवा अभेद सिद्ध हो जाता है। भक्ति द्वारा जीव को सहज अवस्था एवं परम विश्राम प्राप्त हो जाता है, जीवन रसमय हो जाता है, भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। यह मानस का भक्ति पक्ष है। मानस में राम कथा इसी के प्रतिपादन में संगत हुई है। मानस भक्ति का प्रतिपादक ग्रन्थ है।

१९

# मानस में भरत

राम के लिये भरत और लक्ष्मण दोनो ही जीवन के अभिन्न अंग हैं तथापि जहाँ एक ओर लक्ष्मण राम के दैहिक स्वरूप, सत्ता एवं जीवन के रक्षक के रूप में निरन्तर सक्रिय रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर भरत राम के आदर्शों, आस्थाओं, मूल्यों, मान्यताओं तथा मान एवं मर्यादा के प्रतिपालक के रूप में प्रकट होते हैं। लक्ष्मण राम के भौतिक देह के सजग प्रहरी हैं, भरत राम के चारित्र्य का भरण-पोषण करते हैं।

शत्रुघ्न भी वीर लक्ष्मण की भाँति दुष्टों के दमनकारक हैं, नाम के अनुरूप शूर एवं शत्रुविनाशक हैं। लक्ष्मण और शत्रुघ्न गौरांग हैं, किन्तु राम और भरत नीलाभ हैं, श्यामल हैं तथा उनमें चारित्रिक सौन्दर्य-माधुर्य का विलक्षण साम्य है। लक्ष्मण परछाई की तरह राम के साथ रहते हैं, राम की रक्षा करते हैं, राम के देह के अंगभूत ही हैं। भरत राम की आत्मा हैं तथा दूर रहकर भी स्वयं राममय हैं तथा राम के भीतर व्याप्त रहते है।

लक्ष्मण राम के विग्रह के साथ तादात्म्य मानकर, उग्र भाव से हर समय धनुष को उठाये हुए, उनकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। सेवहिं लखन सीय रघुवीरहिं, जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं। लक्ष्मण राम की सेवा ऐसे करते हैं, जैसे कोई अविवेकी देहाभिमानी शरीर की सेवा करता है। जब राम वन में सोते हैं तो लक्ष्मण जागरण कर धनुष उठाये हुए पहरा देने में सावधान रहते हैं। राम-लक्ष्मण की जोड़ी लोक में एक प्रसिद्ध उपमा ही बन गयी है। भरत राम के समान धर्मरत होकर जीवन भर मानो तपस्या ही करते हैं। आचरण में राम और भरत दोनो अद्भुत रूप से आत्मसात् हैं।

विश्वामित्र मुनि लक्ष्मण को राम का श्रेष्ठ अंगरक्षक मानकर ही यज्ञ-रक्षा के लिए महाराज दशरथ से राम के साथ लक्ष्मण को भी माँग लेते हैं। जनक द्वारा

आयोजित सीता-स्वयंवर में लक्ष्मण राम के साथ रहते हैं और जनक की चुनौती पर उन्हें ललकार देते हैं। परशुराम के उग्र होने पर लक्ष्मण राम की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये उनसे भिड़ जाते हैं। राम का राजतिलक होने के स्थान पर उनके निर्वासित होने पर लक्ष्मण उनके साथ वनगमन करते हैं तथा रावण के साथ युद्ध होने पर शूरता से लड़ते हैं। मेघनाद के द्वारा राम के देह के प्रतिविम्ब स्वरूप लक्ष्मण पर वीरघातिनी का आघात होने पर बिम्ब स्वरूप राम में वेदना उत्पन्न हो जाती है। लक्ष्मण भी मूर्च्छा से जागने पर कहते हैं कि घाव तो मुझे लगा किन्तु वेदना राम को हो रही है। 'हृदय घाउ मेरे पीर रघुबीरहि, पाई सजीवन जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरहि।' राम उन्हें सहसा सहोदर भ्राता कहकर पुकारते हैं, क्योंकि वे सहोदर की भाँति शरीर के निरन्तर साथी हैं। प्रेम विभोर होकर राम उन्हें 'सुत' कहकर भी सम्बोधन करते हैं। किन्तु भरत तो राम की आत्मा ही हैं। राम हनुमान से कहते हैं—'तुम जानहु कपि मोर सुभाऊ, भरतहिं मोहि कछु अन्तर काऊ।' राम अपना सहज भाव बताते हैं कि उनमें और भरत में कोई भेद ही नहीं है। जो राम हैं, वही भरत हैं।

राम स्वयं भरत से कहते हैं—'सबहिं मानप्रद आपु अमानी, भरत प्रान सम मम ते प्रानी।' सबको सम्मान देकर स्वयं मानरहित रहने वाले सत्पुरुष राम को प्राणों के समान प्रिय हैं। वास्तव में भरत ही ऐसे सन्त-शिरोमणि हैं जो दूसरों को मान देकर स्वयं निरभिमान रहते हैं। भरत से बढ़कर निरभिमान अन्य कौन व्यक्ति हो सकता है जिनके लिये स्वयं राम लक्ष्मण से कहते हैं—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। विधि प्रपंच महं सुना न दीसा॥
भरतहिं होई न राजमद विधि हरि हर पद पाई।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु विनसाई॥
तिमिरु तरुन तरनिहि मकु मिलई। गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हि घट जोनी। सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥
मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई। होई ना नृपमदु भरतहिं भाई॥
लखन तम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जल ताता। मिलई रचई परपंचु विधाता॥
भरत हंस रवि वंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोप विभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन वारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥
कहत भरत गुन सील सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

सुनि रघुवर वानी विवुध देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो प्रभु को कृपा निकेतु।

महात्मा भरत के चारित्रिक औज्ज्वल्य से सभी प्रभावित होते हैं और भिन्न—

भिन्न अवसरों पर सभी भरत का गुणगान करते हैं। भरत के सम्बन्ध में राम वशिष्ठ जी से कहते हैं—

**नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरत सम भाई।**

राम और भरत में सचमुच कोई अन्तर नहीं है। राम निषाद से कहते हैं—तुम सम सखा भरत सम भ्राता। भरत जैसा भाई कहाँ मिलता है? 'भये न हैं न होहिगें कबहु भुवन भरत से भाई।'

भरद्वाज भरत से कहते हैं—

**सुनहु भरत रघुपति मन मांही। प्रेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं।**
**तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू।**

भरद्वाज का मत है कि राम का स्नेह ही मूर्तिमान बनकर भरत के रूप में अवतरित हुआ है।

राम और भरत का परस्पर अनन्य भाव है, भरत का मात्र 'राम' कहना वातावरण को भाव-स्पन्दित कर देता है। 'जबहिं राम कहि लेहिं उसासा, उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।' अतएव भरत जैसा प्रिय राम के लिये भी अन्य कोई नहीं है। 'भरत सरिस को राम सनेही, जगु जप राम रामु जप जेही।' संसार राम को जपता है और राम भरत को जपते हैं। भरत से अधिक पुण्यशाली कौन अन्य है?

भरत का प्रेमभाव ही अद्भुत है। चित्रकूट में भरत वशिष्ठ मुनि से कहते हैं—

**महूँ सनेह सकोचवस सन्मुख कहै न बैन।**
**दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पियासे नैन।**

भरत ने संकोचवश राम के सन्मुख कभी कुछ न कहा और उनके प्रेम-प्यासे नेत्र सदा अतृप्त ही रहे। भरत सरस स्नेह के अगाध सागर हैं और राम उनके स्नेह के वशीभूत रहते हैं। भरत ममता (प्रेम) की सीमा हैं और राम समता की सीमा है। राम सत्य की मूर्ति हैं, भरत प्रेम मूर्ति हैं। चित्रकूट में जनक सुनयना से कहते हैं—

**भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि राम सींव समता की।**

भरत और राम दोनों एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करते हैं।

दोनों कर्त्तव्य को प्रधान मानते हैं तथा कर्त्तव्य-भावना के कारण उनका त्याग सहज है। दोनों में अनूठा शील है, अनोखा संकोच है। 'राम सकोचि प्रेमवश, भरत सप्रेम पयोधि।'

राम और भरत की अभिन्नता को माता कौशल्या स्वयं प्रमाणित करती हैं। कौशल्या भरत से ऐसे भेंट करती हैं, जैसे स्वयं राम आ गये हों।

**सरल सुभाय माय हिय लाये। अतिहित मनहुँ राम फिरि आये।**

कौशल्या भरत से कहती है—

**गये ग्यान वरु मिटहिं न मोहू, तुम रामहिं प्रतिकूल न होऊ।**
**मत तुम्हार यह जो जग कहहिं, सौ सपने सुख सुगति न लहहिं॥**

कौशल्या चित्रकूट में जाकर राम की चिन्ता नहीं करतीं, भरत की ही चिन्ता करती हैं—

लखनु रामु सिय जाहुँ वन भल परिनाम न पोचु।
गहवरि हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥

आगे, इसी प्रसंग में कौशल्या महारानी सुनयना से भरत की प्रशंसा करती हैं तथा मानो प्रमाण-पत्र देती हैं—

भरत सील गुन विनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीय कि जाहि उलीचे।
जानहुँ सदा भरत कुल दीपा। वार-वार मोहि कहेउ महीपा।
कसे कः कुमनि पारिखि पाए। पुरुप परिखिअहिं समय सुभाए।
अनुचित आजु कहव असमोरा। सोक सनेह सयानप थोरा।
सुनि सुरसरि सम पावनि वानी। भाई सनेह विकल सव रानी।

भरत के गुण वाणी से कैसे प्रकट करें? क्या सीप से समुद्र उलीचा जा सकता है? विमाता कौशल्या को भरत की ही चिन्ता है—'मोरे सोच भरत कर भारी।'

साधक और सिद्धजन भरत के अद्‌भुत प्रेम-भाव को देखकर कहते हैं—

होत न भूतल भाउ भरत को, अचर सचर चर अचर करत को।

अर्थात् यदि भूतल पर भरत का प्रेम न होता जो जड़ को चेतन और चेतन को जड़ कौन करता? भरत का प्रेम अद्‌भुत है, अनुपम है, विलक्षण है।

प्रेम अमिय मंदरु विरहु भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रकटेऊ सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुवीर।

प्रेम अमृत है, विरह मन्दराचल है, भरत जी गहरे समुद्र हैं। कृपामय राम ने सुर और साधुओं के हित के लिए मथकर प्रेम रूपी अमृत प्रकट किया है। प्रेम-सिन्धु भरत जी से ही प्रेम-तत्व प्रकट हुआ है।

भरत का प्रेमपूर्ण एवं पवित्र आचरण अप्रतिम है। 'परम पुनीत भरत आचरनू।' यदि भरत का जन्म न होता तो आचरण का आदर्श कौन प्रस्तुत करता। (हनुमान कहते हैं—

होतो नहि जौ जग जनम भरत को।
तो, कपि कहत, कृपानधार मग चलि आचरन वरत को?)

वास्तव में भरत को रहनी और करनी कठिन है यद्यपि सुनने और कहने में सरल है ।

"कहत सुगम करत अगम सुनत मीठ लगति ।"

"भायप भगति भरत आचरनू, कहत-सुनत दुःख दूषण हरनू ।"

"परम पुनीत भरत आचरनू, मधुर मंजु मुदमंगल करनू ।"

भक्ति, निश्छल प्रेम, त्याग, तपस्या, आत्मशुद्धि तथा पवित्र जीवन की चरम सीमा भरत के चरित्र में मिलती है । भरत ने ईर्ष्या-द्वेष, संकीर्णता, राज्यलिप्सा एवं प्रलोभन पर विजय प्राप्त की तथा अपने आचरण द्वारा भोग पर त्याग की तथा अधिकार पर कर्त्तव्य की प्रतिष्ठा को स्थापित किया । भरत की तपस्या सर्वोपरि है, अप्रतिम है । यदि लक्ष्मण, राम और सीता वन में कष्ट उठा रहे हैं तो भरत राजभवन में रहकर भोगों के मध्य में भी कठोर तप करते हैं ।

**लखन रामसिय कानन वसहीं, भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ।**

भरत की तुलना में कौन है ? भरत सर्वथा अतुलनीय हैं । भरत के चारित्रिक गुणों की गणना करना अत्यन्त कठिन है । भरत सद्गुण सम्पन्न, धर्मज्ञ और मर्मज्ञ हैं । भरत में संयम और सदाचार, प्रेम और विनय, बौद्धिक प्रतिभा और श्रद्धाभाव, सभी अनूठे हैं । सत्य, तप, करुणा, क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता, सात्विकता, सरलता, मधुरता, नम्रता, गंभीरता, वैराग्य आदि गुण भरत से अलंकृत हो गये । भरत त्याग, तपस्या, शील और भक्ति की सजीव मूर्ति हैं । देवगुरु बृहस्पति भरत के सम्बन्ध में कहते हैं—"सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुराग ।"

लक्ष्मण राम की विमल कीर्ति पताका को संभालने वाले दंड के सदृश हैं तथा भरत राम-चरण-पंकज के प्रलुब्ध मधुप की भांति परम समीप हैं ।

तुलसीदास जी सर्वप्रथम भरत को प्रणाम करते हुए वंदना में कहते हैं—

**प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना, जासु नेम व्रत जाई न बरना ।**

**राम चरन पंकज मन जासू, लुबुध मधुप इव तजई न पासू ।।**

भरत के चरित्र का वर्णन किये विना राम की महिमा का गान अपूर्ण है । भरत के नियम और व्रत का वर्णन करना संभव नहीं है । उनका 'असन वसन वासन व्रत नेमा'—सभी कठिन है ।

**सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं, देखि दसा मुनिराज लजाहीं ।**

भरत का चरित्र शान्तिदायक है, सुमंगलमूल है, पुण्यप्रेरक है तथा चरित्र का श्रेष्ठ उन्नायक है । अतिशय रुचि होते हुए भी भरत की महिमा का गान करना बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है ।

**कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई । मति गति बाल वचन की नाई ।**

तथापि भरत के सद्भाव को कहते-सुनते भला कौन सीताराम के चरण में अनुरक्त नहीं हो जायेगा ? राम-भक्ति प्राप्त करने के लिए भरत-चरित्र श्रेष्ठ उत्प्रेरक है । 'कहत सुनत मति भाउ भरत को । सीय राम पद होइ न रत को ।'

भरत का सेवक-सेव्य भाव अनुपम है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर भी, समर्पण भावना की महोच्च मनोभूमि को प्राप्त होकर भी, भरत अपने को कुटिल कहकर परम उदात्त दीनता का परिचय देते हैं।

भरत आदर्श भाई एवं सेवक हैं। 'सेवक स्वामी सुभाउ सुहावन। नेमु प्रेमु अति पावन पावन।' सेवक-सेव्य भाव कठिन होता है किन्तु संसार सागर पार करने के लिये यह भाव श्रेष्ठ नौका है।

**सेवक सेव्य भाव बिनु भरत न तरिअ उरगारि।**
**भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि ॥**

तुलसीदास राम को आराध्य, उपास्य एवं सेव्य मान कर समस्त रामचरितमानस में भरत के माध्यम से त्यागपूर्ण भक्ति भाव का निरूपण करते हैं। कदाचित् तुलसी चरित्र चित्रण में राम से भी अधिक भरत में प्रतिबिम्बित होते हैं, राम उनके उपास्य हैं तथा भरत आत्मसात् हैं।

भरत भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। अनेक पाश्चात्य देशों में अधिकार प्राप्ति के लिये घोर युद्ध हुए हैं। मेक्समुल्लर ने विवेचन किया है कि पाश्चात्य संस्कृति अधिकार पर बल देती है किन्तु पौर्वात्य संस्कृति कर्तव्य पर। वास्तव में अधिकार परछाई की तरह कर्तव्य का अनुसरण करते हैं तथा कर्तव्यपालन करने से मनुष्य को अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। राम तथा भरत के मध्य राजसत्ता के त्याग का सात्विक संघर्ष अनूठा है। भरत अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा में दृढ़ हैं तथा अधिकार का उत्सर्ग कर कर देते हैं। भरत का जीवन सेवापरक है, सत्तापरक नहीं। भरत त्याग के उपासक हैं, भोगवाद के नहीं। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को बाहर समाज में आदर, प्रतिष्ठा और यश तथा भीतर गहन आत्मसन्तोष प्राप्त होता है। कर्तव्यनिष्ठा के समुज्ज्वल रूप भरत प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं।

२०

# मानस में हनुमान

मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र ऊंचाई में आकाश को तथा गहनता में समुद्र को छू लेता है। राम के आदर्श आकाश के सदृश महोच्च तथा उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा समुद्र की भाँति अति-गहन है। उनका लोकप्रिय होना उनकी चारित्रिक उत्कृष्टता को प्रमाणित कर देता है। हनुमान राम के लिये अपरिहार्य हैं। हनुमान के बिना राम की उपलब्धियों की कल्पना करना ही कठिन है। राम के साथ आत्मसात् होने वाले, राम के भाव के अनुरूप अपने जी न का गठन करने वाले तथा राम में निरन्तर लीन रहने वाले महोदात्त हनुमान का चरित्र-चित्रण करना अत्यन्त सुदुस्तर है। हनुमान का जीवन परम पावन है और उनका स्मरण कल्याणप्रद है।

हनुमान प्रारम्भ से अन्त तक राम के सहायक एवं सेवक के रूप में प्रमुख पात्र की भूमिका का निर्वाह करते हैं। कथानक की प्रगति के साथ ही हनुमान का भव्य चरित्र भी उभरता चला जाता है। उनके पराक्रम, रणकौशल, शौर्य, कार्य-कुशलता, शक्तिमत्ता, बुद्धिमत्ता, वाक्पटुता, जितेन्द्रियता, संयम, स्वामिभक्ति, विनम्रता आदि गुण उनके उदात्त व्यक्तित्व को उद्भासित करते हैं। वृत्तं हि महतां महत्—महापुरुषों का चरित्र भी अकथनीय एवं महान् होता है।

सर्वप्रथम हनुमान का प्राकट्य वन में, राम-लक्ष्मण के समक्ष, विप्ररूप में होता है जब वे सीता की खोज करते हैं। हनुमान राम से उनका परिचय सादर पूछते हैं और स्वयं अपना परिचय पहिले नहीं देते। हनुमान सहज ही अपने प्रभु को पहिचान लेते हैं और राम के प्रश्न करने पर अटपटे ढंग से आत्म-परिचय देते हैं। भक्त हनुमान राम के चरणों में गिरकर अपनी दीनता दिखाते हुए प्रभु से भक्ति-दान की याचना करते हैं—हे प्रभो, आप मेरे सर्वस्व हैं; मुझे शरण में रख लीजिये। राम हनुमान को हृदय से लगाकर कह देते हैं—यद्यपि मैं समदर्शी कहलाता हूँ, अनन्य सेवक के प्रति मैं अनन्यगति हो जाता हूँ। हनुमान और राम में सेवक-सेव्य, उपासक-उपास्य भाव स्थापित हो जाता है।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना । सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ।
पुलकित तन मुख आव न वचना । देखत रुचिर वेष कै रचना ।
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्हीं । हरष हृदय निज नाथहिं चीन्ही ।
मोर न्याऊ मैं पूछा सांई । तुम्ह पूछहु कस नर की नाई ।
तव माया वस फिरउं भुलाना । ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ।

एकु मैं मंद मोहवस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान ।

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरे ।
नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरई तुम्हारेहि छोहा ।
ता पर मैं रघुवीर दोहाई । जानऊं नहिं कछु भजन उपाई ।
सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ।
असि कहि परे चरन अकुलाई । निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ।
तब रघुपति उठाइ उर लावा । निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ।
सुन कपि जिय मानसि जनि ऊना । तैं मय प्रिय लछिमन ते दूना ।
समरदसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।

मानस में सेवक-सेव्य भाव (प्रोज्ज्वल दास्य भाव) श्रेष्ठ भक्ति भाव के रूप में प्रतिपादित है जिस का उपदेश भुशुंडि मुनि करते हैं तथा जिसका मूर्तिमन्त रूप हनुमान हैं—

**सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।**
**भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि ।**

भुशुंडि मुनि उद्‌घोष करते हैं—

**तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी । राम नमामि नमामि नमामी ।**

हनुमान आदि से अन्त तक इसी भाव से अनुप्राणित होकर समस्त क्रिया-कलाप करते है । निस्पृह भाव से भक्तिपूर्वक सेवा करते रहना ही उनका साध्य है, एक मात्र पुरस्कार है । भक्ति सम्मोहनकारिणी होती है और सेव्य को स्ववश कर देती है ।

हनुमान राम को पीठ पर चढ़ाकर सादर सुग्रीव के पास ले जाते हैं । उनका उद्देश्य है दोनो की मैत्री स्थापना द्वारा सीता की खोज में राम की सहायता करना । सुग्रीव राम-लक्ष्मण से भेंट करके धन्य हो जाता है । हनुमान अग्नि के साक्ष्य में उनकी मित्रता करा देते हैं । सुग्रीव को स्मरण है कि उसने सीता को नभपथ में

रुदन करते हुए परवश देखा था और सीता ने कुछ पट डाल दिये थे जिन्हें देखकर राम हृदय से लगा लेते हैं। सुग्रीव सीता की खोज करने का वचन देता है।

राम मित्रता का निर्वाह करते हुए वालिवध करते हैं और सुग्रीव अंगद सहित राज्य करने लगता है। किन्तु सुग्रीव विषय-प्रपंच में फंसकर राम को भूल जाता है। हनुमान सुग्रीव को उसके दायित्व का स्मरण दिलाते हैं। सुग्रीव के आदेश पर हनुमान वानर-यूथ को सीता की खोज के लिये यत्र-तत्र भेज देते हैं। लक्ष्मण क्रुद्ध होकर सुग्रीव के समीप जाते हैं किन्तु हनुमान उन्हें वानर-समुदाय भेजने का समाचार देकर संतुष्ट कर देते हैं। सुग्रीव लक्ष्मण के साथ राम के पास पहुँचकर क्षमा याचना करता है। उस का संकेत पाकर वानर-यूथ सीता की खोज में चले जाते हैं तथा नील अंगद, हनुमान, जामवंत आदि सुभट सीता का पता लगाने के लिये दक्षिण दिशा में जाते हैं। राम हनुमान को प्रिय भक्त जानकर समीप बुलाते हैं और करस्पर्श द्वारा उन्हें आशीष देकर मुद्रिका दे देते हैं। कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी। राम को विश्वास है कि हनुमान सीता की खोज करने में सफल होंगे। अतएव राम हनुमान को सीता के लिये सन्देश भी दे देते हैं।

अन्वेषणरत वानरगण एक गुफा देखकर चकित होते हैं किन्तु हनुमान के प्रवेश करने पर ही ये उसमें प्रवेश करते हैं। यहाँ स्वयंप्रभा तपस्विनी के योगवल से क्षण भर में ही समस्त वानरादि समुद्रतट पर पहुँच जाते हैं। तट पर संपाति सूचना देता है कि सीता लंका के अशोक उपवन से विराजमान है। संपाति कहता है कि राम काज करने के लिये शक्तिशाली तथा बुद्धिशाली होना आवश्यक है। जो नाघइ सत योजन सागर, करई सो राम काज मति आगर। सभी मौन वैठे हैं, सभी दुखी हैं। जामवंत बूढ़े हैं, असमर्थ हैं। अंगद पार जा सकते हैं, किन्तु लौटने में उन्हें संशय है। जामवंत अंगद के सम्मान की रक्षा करते हुए कहते हैं—तुम तो सव के नेता हो, मैं तुम्हें कैसे भेज दूँ, फिर जामवंत हनुमान की ओर देखते हैं और युक्तिपूर्वक हनुमान को उनकी प्रच्छन्न शक्ति के प्रति जागरूक करते हैं। रामभक्त हनुमान तो विनम्र भाव के कारण अपनी शक्ति को ही भूले हुए वैठे हैं, अपने अथाह वल को जानते ही नहीं। जामवंत कहते हैं—'हे वलवान्, क्यों चुप साध कर वैठे हो? तुम पवन पुत्र हो और तुम्हारा वल पवन के समान है। तुम तो बुद्धि, विवेक और विज्ञान के निधान हो। हे तात, जगत् में ऐसा कौन सा कठिन कार्य है जो तुम से न हो सके। तुम्हारा तो अवतार भी रामकाज के लिये हुआ है।' यह सुनते ही हनुमान पर्वताकार हो गये। उनका कनक वर्ण था और उनके तन पर तेज विराज रहा था मानो वह एक अन्य गिरिराज सुमेरु हों। वीरता का भाव जगाने पर हनुमान वार-वार सिंहनाद करने लगे और गर्जन करते हुए वोले—'मैं सारे समुद्र को खेल में ही लाँघ जाऊँगा और सहायकों सहित रावण को मार कर त्रिकूट पर्वत को उखाड़ लाऊँगा।' विशालकाय हनुमान ने जामवंत से कहा—हे जाम्बवान्, मुझे उचित आदेश दीजिये। जामवंत

ने कहा—हे तात, तुम केवल सीता को देखकर लौट जाओ और समाचार दो क्योंकि स्वयं राम ही अपने बाहुबल से रावणादि का संहार करेंगे और वे लीला मात्र के लिये वानर सेना साथ लेंगे।

हनुमान को जामवंत का उपदेश रुचिकर लगा और उन्होंने कहा—आप सब मेरी प्रतीक्षा करें, मैं कार्य सम्पन्न करके ही लौटूंगा। हनुमान राम को हृदय में धारण करके चल दिये। समुद्रतट के पर्वत मानो उनकी भारगरिमा से नीचे दबने लगे। राम के अमोघ वाण की भाँति योगी हनुमान तीव्रता से आकाश मार्ग में चले। समुद्र के संकेत पर मैनाक ने हनुमान को विश्राम देना चाहा किन्तु हनुमान ने उसका स्पर्श करके धन्यवाद किया तथा विदा लेते हुए कहा—मुझे राम काज किये बिना विश्राम कहां है?

मार्ग में नागमाता सुरसा ने हनुमान के बल-बुद्धि की परीक्षा लेने के प्रयत्न में हनुमान को खा जाने का भय दिखाया। किन्तु हनुमान ने उससे कहा—हे माता, मैं राम काज करके लौटूंगा, तब तुम मेरा आहार कर लेना। सुरसा ने हनुमान को आगे न बढ़ने दिया। हनुमान ने कहा—अच्छा, माता, मुझे खाकर भूख मिटा लो। सुरसा ने मायावी शक्ति से अपने मुख को अति विस्तृत कर लिया। योगी हनुमान भी अपने शरीर को बढाने लगे। हनुमान ने अकस्मात् परम लघु रूप धारण कर लिया और उसके मुख में घुसकर तुरन्त बाहर आ गये। सुरसा ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया तथा परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित करते हुए उनके बल बुद्धि-निधान होने को प्रमाणित कर दिया।

राम काज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आशिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥

समुद्र में एक राक्षसी रहती थी जो गगनचर जीवों को खाया करती थी। हनुमान ने उसके कपट को समझ कर उसे मार दिया तथा वह मार्ग की बाधाओं को पार करते हुए समुद्र के पार पहुँच गये जहां उन्होंने एक शैल पर चढ़ कर लंका को अच्छी प्रकार देखा। लंका के चारों ओर जल था। योगिराज हनुमान ने प्रहरियों की दृष्टि से बचने के लिये मच्छर के समान परम लघु रूप धारण करके लंका में प्रवेश का प्रयत्न किया किन्तु लंकिनी ने ताड़ लिया और उन्हें ललकारा। हनुमान ने मुष्टिका प्रहार कर उसे दूर हटा दिया किन्तु उसने यह जान लिया कि यह राम का दूत आया है। अति लघु रूप धारण कर हनुमान ने राम का स्मरण करते हुए लंका में प्रवेश किया। हनुमान ने योगबल से रावण के महल को भीतर से देखा किन्तु सीता के दर्शन न हुए। विभीषण के सदन में सशरीर प्रवेश कर हनुमान ने उसके मुख से 'राम राम' सुन कर विचार किया कि यह सज्जन है और सज्जन से कभी हानि नहीं होती। अतएव हनुमान ने विप्र रूप धारण कर विभीषण से वार्तालाप

प्रारम्भ कर दिया। विभीषण के हृदय में अपने स्वामी राम के प्रति भक्ति-भाव जगाकर और सीता से भेंट करने की युक्ति पूछ कर हनुमान अशोक वाटिका पहुँचे।

वहां हनुमान ने सीता की दीन दशा देखी तथा एक ओर छिप कर बैठ गये। इसी अवसर पर रावण मन्दोदरी आदि सहित वहां आया और सीता को भय-भीत करने लगा। रावण के चले जाने पर सीता को विरह व्याकुल देखकर हनुमान ने राम की कर-मुद्रिका नीचे डाल दी जिसे सीता ने पहिचान लिया। हनुमान 'राम राम' कहते हुए सीता के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने आत्म-परिचय दिया—राम दूत मैं मातु जानकी, सत्य सपथ करुणा निधान की। हनुमान ने सीता को राम की स्नेहशीलता के सम्बन्ध में आश्वस्त करते हुए कहा—

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता, तव दुख दुखी सुकृपा निकेता।
जनि जननी मानहु जिय ऊना, तुम्ह ते प्रेम राम के दूना।

तत्पश्चात् राम का सन्देश सुना कर हनुमान ने सीता को राम की सामर्थ्य के सम्बन्ध में विश्वास दिलाया—

उर आनहु रघुपति प्रभुताई सुनि मम वचन तजहु कदराई।
निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु।

हनुमान अपने मर्यादा पालक स्वामी राम की भांति ही मर्यादा पालक हैं और कभी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं। मर्यादा की सीमा में रहने वाले हनुमान कहते हैं—

अबहि मातु मैं जाऊं लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई।

सीता के मन में हनुमदादि वानरों की शक्ति के सम्बन्ध में सन्देह होने पर वीर हनुमान ने अपना देह प्रकट किया।

कनक भूधराकार सरीरा, समर भयंकर अति बल धीरा।
सीता मन भरोसे तब भयऊ, पुनि लघु रूप पवन सुत लयऊ।

विनम्र एवं निरभिमान भक्त हनुमान अपनी शक्तिमत्ता का श्रेय अपने स्वामी राम को देते हैं—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।

देवी सीता के मन में संतोष उपजा और उन्होंने हनुमान को अभीष्ट आशीर्वाद दिया

आसिष दीन्ह राम प्रिय जाना, होहु तात बल सील निधाना।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू, करहिं बहुत रघुनायक छोहू।

हनुमान ने क्षुधातृप्ति के लिये सीता से फल खाने की आज्ञा मांगी। सीता ने

'देखि बुद्धि बल निपुन कपि', मधुर फल खाने की आज्ञा दे दी। रामदूत हनुमान ने शत्रु को भयभीत करने के लिये नीति अनुसार पहिले बल प्रदर्शन किया और महाभट निशाचरों को मार भगाया। हनुमान ने अक्षयकुमार का भी वध कर दिया। विवश होकर रावण ने मेघनाद को भेजा जो पराक्रम द्वारा हनुमान को न जीत सका तथा अन्त में उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। हनुमान ने मर्यादारक्षा के लिये नागपाश में बंधना स्वीकार किया। प्रभु कारज लगि कपिहि बंधावा। हनुमान को रावण की सभा में प्रस्तुत किया गया। रावण के प्रताप से वीर हनुमान प्रभावित नहीं हुए। 'देखि प्रताप न कपि मन संका, जिमि अहिगन मंह गरुड़ असंका।' रावण ने हनुमान से प्रश्न पूछे और दुर्वाद किया। रामदूत हनुमान ने रावण के प्रश्नों का उत्तर युक्तिपूर्वक दिया और अपने स्वामी के प्रताप का विशद वर्णन किया। दूत के लिये अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का महत्व नहीं होता है तथा उसके लिये अपने स्वामी का कार्य करना ही साध्य होता है। मोहि न कछु बांधे कइ लाजा, कीन्ह चहऊं निज प्रभु कर काजा। राम के प्रताप और रावण की क्षुद्रता का नीतिपूर्वक वर्णन करने पर रामदूत हनुमान ने रावण को विस्तार सहित तथा युक्तिपूर्वक यह समझाने का प्रयत्न किया कि उसका हित राम की शरण में जाकर सीता को लौटा देने में निहित है।

**विनती करउं जोरि कर रावण, सुनहु मान तजि मोर सिखावन।**

महाअभिमानी रावण ने हनुमान का उपहास किया और उसे मारने की आज्ञा दी किन्तु विभीषण ने दूतवध को नीतिविरुद्ध बता दिया। नीति विरोध न मारिअ दूता। रावण ने हनुमान की पूंछ में आग लगा देने की आज्ञा दे दी। योगी हनुमान लघु रूप धारण कर अटारी पर चढ़ गये और उन्होंने घर-घर कूद कर समृद्धिशाली लंका में आग लगा दी। वास्तव में रामदूत द्वारा यह नीतिपूर्ण उग्र बल प्रदर्शन था। हनुमान पूंछ बुझाकर पुनः सीता के पास पहुंचे। माता जानकी को समझाकर तथा उनका सन्देश एवं चिन्हस्वरूप चूड़ामणि लेकर, हनुमान समुद्र पार कर कपिसमूह के पास पहुँच गये। हनुमान स्वामी का कार्य सम्पन्न करके परम प्रसन्न थे। मुख प्रसन्न तन तेज विराजा, कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा। सुग्रीव यह देखकर प्रसन्न हुए। सुनि सुग्रीव हरषि कपि करि आए प्रभु काज। सभी को प्रभु काज प्रिय था। नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना, राखे सकल कपिन्ह के प्राना। परमभक्त हनुमान को राम काज करने का श्रेय प्राप्त हुआ। केवल राम-लक्ष्मण और जानकी ही नहीं वरन् सभी वानर भी हनुमान के कृतज्ञ हो गये। जामवंत ने राम से कहा—नाथ पवन सुत कीन्ह जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी। हनुमान राम के लिये अपनी अद्भुत सेवा के द्वारा परमप्रिय हो गये।

राम के यह पूछने पर कि सीता किस प्रकार काल यापन करती हैं, हनुमान ने भक्तिपूर्ण एवं युक्तिपूर्ण उत्तर दिया—

**नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।**
**लोचन निज पद जंत्रित जाहि प्रान केहि बाट ।**

हनुमान ने राम को सीता की चूड़ामणि दे दी और सीता को सन्देश भी सुना दिया। भक्तराज हनुमान स्वयं प्रभु के स्मरण में निमग्न रहते हैं और विस्मरण को विपत्ति की संज्ञा देते है।

**कह हनुमंत विपति प्रभु सोई, जब तब सुमिरन भजन न होई।**

राम कृतज्ञता से ओतप्रोत होकर कहते हैं—

**सुनु कपि तोहि समान उपकारी, नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।**
**प्रति उपकार करौं का तोरा, सनमुख होई न सकत मन मोरा।**
**सुन सुत तोहि उरिन मैं नाहीं, देखेउँ करि विचार मन मांही।**

कृतज्ञता में राम के नेत्र सजल हो जाते हैं—

**पुनि पुनि कपिहिं चितव सुरत्राता, लोचन नीर पुलक अति गाता।**

राम हनुमान के शीश पर अपना वरद हस्त रख देते हैं और भक्त हनुमान ऐसे आनन्दविभोर हैं कि उनकी अवस्था का स्मरण कर शिव भी मग्न हो जाते हैं। सुमरि सो दसा मगन गौरीसा।

राम के पूछने पर ही महावीर हनुमान लंका दहन की चर्चा करते हैं। परमवीर हनुमान अपने स्वामी राम की भाँति विनयशील है तथा स्वमुख प्रशंसा नहीं करते। हनुमान अपनी सफलता का श्रेय अपने स्वामी राम को ही देते हैं।

कहु कपि रावन पालित लंका, केहि विधि दहेउ दुर्ग अति बंका।
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना, बोला वचन विगत अभिमाना।
साखा मृग कै बड़ि मनुसाई, साखा तें साखा पर जाई।
नाघि सिंधु हाटक पुर जारा, निसिचर गन वधि विपिन उजारा।
सो सब तव प्रताप रघुराई, नाथ न कछु मोरि प्रभुताई।
ता कहुं प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।

दूत के बल-प्रदर्शन से लंकावासी घबरा उठे और उनका मनोबल ध्वस्त हो गया।

जासु दूत बल बरनि न जाई, तेहि आए पुर कवन भलाई।

स्वयं मंदोदरी रावण से कहने लगी—

समुझत जासु दूत कइ करनी, स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी।

सेतुबंध के समय पवन कुमार सुंदर अत्युक्ति कहते हैं कि राम प्रतापरूपी

वड़वानल से समुद्र सूख गया किन्तु शत्रुओं की स्त्रियों के आंसुओं से पुनः भर गया, अतएव खारा हो गया।

**प्रभु प्रताप वड़वानल भारी, सोषेउ प्रथम पयोनिधि वारी।**
**तव रिपु नारि रुदन जल धारा, भरेउ बहोरि भयउ तेहिं खारा।**

राम-रावण युद्ध में महावीर हनुमान अपने पराक्रम, रणकौशल एवं शौर्य से सबको चकित कर देते हैं। हनुमान मेघनाद की वीरघातिनी शक्ति से आहत लक्ष्मण को उठाकर राम के सामने ले आते हैं तथा जामवंत के संकेत पर लंका से सुषेण वैद्य को ले आते हैं। सुषेण द्वारा निर्दिष्ट संजीवनी औषधि लाने का अद्‌भुत कार्य भी हनुमान ही करते हैं। मार्ग में हनुमान बाधा डालने वाले कालनेमि का वध कर देते हैं। जब हनुमान आकाश मार्ग में अयोध्या के ऊपर से जाते हैं, भरत उन्हें वाण से नीचे गिरा देते है किन्तु उनके मुख से 'राम राम' सुनकर उन्हें पहिचान कर भरत उन्हें सादर विदा कर देते हैं। हनुमान औषधि का शैल लेकर विलाप-निमग्न राम के पास पहुंच जाते हैं—आई गयउ हनुमान जिमि करुना मंह वीर रस। परम सुजान प्रभु हनुमान के प्रति अति कृतज्ञ होते हैं। 'अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना।' संजीवनी के प्रभाव से लक्ष्मण उठ बैठते हैं और पुनः युद्धरत हो जाते हैं। यह वीर हनुमान की महिमा है।

रामदूत हनुमान के पराक्रम से प्रभावित, कुंभकर्ण रावण को समझाते हैं—

**हे दससीस मनुज रघुनायक, जाके हनुमान से पायक।**

हनुमान के मुष्टिप्रहार से कुंभकर्ण भी घूर्णित होकर गिर पड़ता है। प्रबल हनुमान समस्त युद्ध में राक्षसों का मानमर्दन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

विजयश्री प्राप्त होने पर राम अपने विश्वस्त एवं प्रिय हनुमान को अपनी प्राणवल्लभा जानकी के पास लंका में विजय का समाचार देने के लिये भेजते हैं। करुणा की स्रोतस्विनी देवी सीता रामभक्त हनुमान को आशीष देती हैं—

**सुनु सुत सद्‌गुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत।**
**सानुकूल कोसलपति रहहु समेत अनंत।**

हनुमान सीता का सन्देश लेकर शीघ्र ही राम के पास लौट आते हैं। राम युवराज विभीषण को अपने परम विश्वासपात्र भक्त हनुमान सहित जाकर सीता को ले आने का आदेश देते हैं। राम और सीता के मिलन से समस्त दिशाएं आनन्दपूरित हो जाती हैं। राम विभीषण तथा वानरों को प्रेमपूर्वक विदा देते हैं। विभीषण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, जामवंत, नल-नील आदि विमान में चढ़कर राम लक्ष्मण जानकी के साथ अयोध्या की ओर चल पड़ते हैं। मार्ग में राम हनुमान और अंगद के पराक्रम की सराहना करते हैं—हनुमान अंगद के मारे, रन महि परे निशाचर भारे।

अयोध्या के समीप पहुंचने पर राम हनुमान को ही भरत के पास समाचार

देने के लिये भेजते हैं। राम के निजी दूत तो भक्तराज हनुमान ही हैं। राम-विरह के अथाह समुद्र में डूबते हुए भरत के लिये हनुमान प्राणरक्षक जलपोत की भांति हैं।

रामविरह सागर महं भरत मगन मन होत।
विप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत॥

राम-विरह में डूबने वाले की रक्षा जलपोत बनकर हनुमान ही करते हैं हनुमान भरत को राम के आगमन का शुभ समाचार युक्तिपूर्वक देते हैं तथा भरत उनके वचनामृत से तृप्त हो जाते हैं—

जासु विरह सोचहु दिनराती, रटहु निरंतर गुण गन पाती।
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता, आयउ कुसल देव मुनि त्राता।
रिपुरन जीति सुजस सुर गावत, सीता सहित अनुज प्रभु आवत।
सुनत वचन बिसरे सब दूखा, तृषावंत जिमि पाइ पियूषा।

हनुमान भरत से आत्म परिचय देते हुए कहते हैं—दीनबन्धु रघुपति कर किंकर। भरत जी हनुमान को राम से अभिन्न मानकर कहते हैं—मिले आजु मोहि राम पिरीते। हनुमान का राम के साथ भक्ति द्वारा एक तादात्म्य है, हनुमान राममय हैं।

भरत कृतज्ञ भाव से कहते हैं—नाहिन तात उरिन मैं तोही। भरत को समाचार देकर हनुमान राम के पास चले आते है और उन्हें भी कुशल समाचार देकर आनन्दित कर देते हैं। राम कथा में शुभ समाचार देने का सुखद कार्य हनुमान ही करते हैं। जन सुखदायक राम अयोध्या आते हैं, अयोध्या में उल्लास छा जाता है।

हनुमान आदि सब वानरवीर मनोहर मनुज शरीर धारण कर लेते हैं और आनन्दमग्न होकर विचरण करते हैं। राम अयोध्या में कुछ समय तक रहने पर विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जामवंत, नल-नील, निषाद आदि को सादर विदा कर देते हैं। हनुमान तो राम के अभिन्न अंग हैं, अतएव कोई राम से उनकी विदा की कल्पना ही नहीं करता। हनुमान जानकी-राम के साथ लाडले पुत्र की भांति सदैव रहते हैं। हनुमान सम नहिं बड़भागी, नहि कोउ राम चरन अनुरागी। मन, वचन, कर्म से राम के साथ आत्मसात् होने वाले भक्तराज हनुमान की उपासना से रामकृपा सुलभ हो जाती है। भक्त और भगवान् में अभेद है। सारे देश में राम से अधिक हनुमान के मंदिर हैं और राम से अधिक उनके दास हनुमान की पूजा होती है। हनुमान का पावन चरित्र 'राम से अधिक राम कर दासा' के तथ्य को प्रमाणित कर देता है।

× × × × × ×

महात्मा तुलसीदास ने राम भक्तों को बड़भागी की उपाधि दी है। माया मोह से मुक्त होकर राम में अनुरक्त रहने वाला भक्त बड़भागी होता है।

रमा बिलास राम अनुरागी, तजत वमन इव नर बड़भागी।

प्रेममग्न होकर सुखधाम राम के चरणों में गिरकर लिपट जाने वाले मुनि सुतीक्ष्ण बड़भागी हैं।

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी, प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी।

विभीषण प्रथम भेंट में हनुमान को विप्ररूप में देखकर कल्पना करते हैं कि स्वयं दीनवन्धु राम ही उसे बड़भागी बनाने के लिये प्रकट हो गये हैं। वे हनुमान में राम की झलक देखकर कहते हैं—की तुम राम दीन अनुरागी, आयहु मोहि करन बड़भागी।

राम कथा के परम रसिक श्रोता गरुड़ श्रेष्ठवक्ता काकभुशुण्ड को परम बड़भागी समझते हैं—

पूरन काम राम अनुरागी, तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी।

सुग्रीव कहते हैं—हम सब सेवक बड़भागी, संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।

अंगद के विचार में जटायु परम बड़भागी है कि उसने राम काज के लिये प्राण त्याग कर दिया—

राम काज कारन तनु त्यागी, हरि पुर गयउ परम बड़भागी।

राम के बिना अयोध्या अभागी है और राम के पधारने पर वन भी बड़भागी है। कौशल्या राम से कहती हैं—बड़भागी वन अवध अभागी, जो रघुवंश तिलक तुम त्यागी।

लोकाभिराम राम भाग्योदय कारक है, भाग्यप्रदाता हैं। राम की चरण सेवा करने वाले बड़भागी हैं—बड़भागी अंगद हनुमाना, चरन कमल चापत विधि नाना।

हनुमान राममय हैं और उनके रोम-रोम में राम रमे हुए हैं। राम की कथा के आदिउद्गाता शिव हनुमान को अनुपम बड़भागी मानते हैं—

हनुमान सम नहिं बड़भागी, नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई, बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

जिसकी प्रीति और सेवा की प्रशंसा के गीत बार-बार राम स्वयं अपने मुख से केवल कहते ही नहीं हैं बल्कि आनन्द तरंगित होकर गाते हैं, ऐसे भक्त शिरोमणि हनुमान के सदृश बड़भागी अन्य कौन हो सकता है?

सभी हनुमान के महत्व को पहिचानते और मानते हैं तथा मुक्त कण्ठ से उनका गुणगान करते हैं।

मानस स्रष्टा महात्मा तुलसीदास के मत में हनुमान साधु हैं और कुवेष होने पर भी साधुता के कारण उनका सम्मान है। किएहु कुवेष साधु सनमानू, जिमि जग जामवंत हनुमानू॥ तुलसीदास मानस के प्रारम्भ में श्रद्धापूर्वक हनुमान को प्रणाम करते हैं तथा कहते हैं कि स्वयं राम ने भी उनके यश का वर्णन किया है तथा राम उनके हृदय में निवास करते हैं।

महावीर विनवउं हनुमाना, राम जासु जस आपु बखाना।
वन्दउं पवनकुमार खल वन पावक ग्यानघन।
जासु हृदय आगार वसहिं राम सर चाप धर ॥

हनुमान की सिद्धि का रहस्य कदाचित् निरन्तर राम नाम स्मरण है। अलौकिक ब्रह्म ज्ञान की गूढ़ता को समझने के लिये तथा लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिये नामजप परम आवश्यक है।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ, नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
साधक नाम जपहिं लय लाए, होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए।

हनुमान ने पावन नाम जप कर राम को अपने वश में कर लिया।

सुमरि पवनसुत पावन नामू, अपने वस करि राखे रामू।

नाम और नामी तत्वतः एक ही होते हैं। हनुमान ने भक्तिपूर्वक नाम स्मरण के द्वारा न केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया बल्कि समस्त सिद्धियां भी हस्तगत कर ली। हनुमान राम नाम की भांति समर्थ हैं। नाम सुमति समरथ हनुमानू। तुलसीदास रामभक्त हनुमान को प्रणाम करते हुए कहते हैं कि रघुपति के प्रिय भक्त, पवनपुत्र हनुमान अतुलित बलधाम हैं, स्वर्ण शैलाभदेह हैं, दनुजवनकृशानु हैं, ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, सकलगुणनिधान हैं, वानराधीश हैं। हनुमान का चरित्र प्रेरणादायक है।

## २१

# गांधी और लिंकन

महात्मा गांधी और अब्राहम लिंकन में अत्यधिक साम्य है। दोनो मनीषी मानवीय मूल्यों के पक्षधर हैं तथा उनका जीवन परमोच्च आदर्शों का प्रेरक है। उनकी वाणी के दर्पण में जनता ने अपने महान् राष्ट्रनायकों की गरिमा का दर्शन किया। इतिहास में दोनो युगचेतना के प्रतीक के रूप में गौरव-मण्डित हैं। जन मानस के साथ तादात्म्य, वज्रसंकल्प, सशक्तता, कर्मठता, करुणार्द्रता, उच्च आदर्श और समर्पित जीवन की उष्मा—इन गुणों में दोनो का विस्मयप्रद साम्य है। दोनों के संघर्षमय जीवन का अवसान जीवनलक्ष्य की पूर्ति होने के अनन्तर शीघ्र ही हिंसात्मक आक्रमण द्वारा हुआ।

महात्मा गांधी ने कहा—"मुझे अपने को घटाकर शून्य तक ला देना चाहिये।" महापुरुष अपने सम्मुख अपने जीवनलक्ष्य को स्पष्टतः निर्धारित कर लेते हैं तथा अपनी अस्मिता को मिटा कर उसकी संपूर्ति के लिये विचार, वचन एवं कर्म से जुट जाते हैं एवं तदर्थ अपनी समस्त शक्तियों का होम कर देते हैं। महापुरुष अपने मार्ग में अहंकार को बाधक नहीं होने देते। लक्ष्य पूर्ति के लिये अपने अहंकार का विलीनीकरण करना ही उसका उदात्तीकरण होता है। अहंकार का त्याग करने पर मनुष्य सृष्टि एवं स्रष्टा के साथ एकरूप हो जाता है तथा उसमें अनन्त शक्ति जाग जाती है।

अहंकार मनुष्य को आगे बढ़ने से रोक देता है। अहं-ग्रस्त व्यक्ति अहंभाव के कारण अपने लक्ष्य को गौण कर देता है तथा अन्य व्यक्तियों एवं परिस्थितियों को दोषी ठहरा कर व्यक्तिगत झगड़े मोल ले लेता है तथा अपने लक्ष्य से भटक जाता है। लक्ष्य के लिये समर्पित मनुष्य व्यक्तिगत मान-अपमान एवं यश-अपयश से ऊपर उठकर लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। वह लक्ष्यपूर्ति के लिये सर्वस्व अर्पण कर देता है।

परिस्थिति को विषम, प्रतिकूल अथवा दोषमय बता कर पीछे हट जाने वाला व्यक्ति कायर होता है। वर पुरुष विषम परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाकर अथवा

उस पर विजय पाकर आगे बढ़ जाता है। वास्तव में परिस्थिति की विषमता ही मनुष्य की प्रसुप्त शक्तियों को जगाकर उसे महान् बना देती है। महापुरुष परिस्थिति की चुनौती को सहज ही स्वीकार कर लेते हैं और कभी भयभीत नहीं होते। साहसी व्यक्ति प्रत्येक विपमता में उन्नति के अवसर का दर्शन करता है तथा कायर व्यक्ति प्रत्येक अवसर में विपमता का दर्शन करता है।

दृढ़ संकल्प, पुरुपार्थ (पराक्रम) और धैर्य लक्ष्यपूर्ति के मार्ग में परम सहायक होते हैं। असिद्धार्था निवर्तन्ते न हि धीराः कृतोद्यमाः अर्थात् उद्यमी और धैर्यशील पुरुप कार्य-सिद्धि होने से पूर्व मार्ग से नहीं हटते हैं। वशिष्ठ कहते हैं—

"न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः॥"

संसार रूपी कोप में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्यों के द्वारा शुद्ध पुरुपार्थ से किये हुए शुभकर्म से उपलब्ध न हो सके।

महाकवि भारवि कहते हैं—निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विपादेन समं समृद्धयः। समृद्धियां (सफलता) पराक्रम के आश्रित होती हैं तथा वे निराशा के साथ नहीं रहती हैं।

विपत्ति को देखकर दीनचित्त घबरा जाते हैं किन्तु धीर पुरुप उसे पार कर जाते हैं। धीरास्तरन्ति विपदं न हि दीनचित्ताः।

सफलता तो उद्यम से प्राप्त होती है, मनोरथ से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में मृग नहीं घुस जाते हैं।

"उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥"

जिस धीर पुरुप का मनोबल ऊंचा होता है, उसका भाग्य भी ऊंचा होता है, उसकी उपलब्धि भी ऊंची होती है। उन्नतं मानसं यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम्।

धीर वे होते हैं, जिनके मन में विपम परिस्थिति होने पर भी भयादि विकार उत्पन्न नहीं होते हैं। विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येपां न चेतांसि त एव धीराः। गीता में दुःख और सुख में सम रहने वाले धीर को मोक्ष का अधिकारी कहा गया है। "समदुःखसुखं धीरं।"

धीर पुरुप कितने भी कष्टों से पीड़ित हो, उसके धैर्यगुण को मिटाया नहीं जा सकता। अग्नि को नीचे झुकाने पर भी उसकी लपटें नीचे की ओर झुकना नहीं जानती हैं, ऊपर की ओर ही उठती रहती हैं। इस आशय को व्यक्त करने वाला एक श्लोक है—

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव॥

भर्तृहरि कहते हैं—विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति। उत्तम पुरुष पुनः पुनःविघ्न आने पर भी लक्ष्यपूर्ति के मार्ग को नहीं छोड़ते हैं। इसी आशय को एक अन्य कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

**"महत्वमेतन्महतां नयालंकारधारिणाम्।**
**न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये॥"**

नीतिमान् महापुरुषों की यह महत्ता होती है कि वे लक्ष्यपूर्ति के मार्ग को कष्ट आने पर भी नहीं छोड़ते हैं।

धैर्य के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु मनुष्य का संकट से उद्धार नहीं कर सकती है। स्वधैर्यादृते न कश्चिदभ्युद्धरति संकटात्। धैर्य साहस का मूलतत्व होता है।

धीर पुरुष पराक्रम से प्रारब्ध को दबा लेता है तथा भय से विचलित नहीं होता है—

**"दैवं पुरुषकारेण यःसमर्थः प्रबाधितुम्।**
**न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥"**

दृढ़ संकल्पवान् व्यक्ति लक्ष्यपूर्ति के मार्ग में आये हुए दुःख और सुख, अपयश और यश की परवाह नहीं करता है। मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।

अविवेकी पुरुष ही परिस्थितियों को भयावह एवं प्रतिकूल कहकर पीछे हट जाते हैं तथा अन्य व्यक्तियों को मूर्ख, दुर्बल, स्वार्थी अथवा कपटी कहकर अहंकारवश उनसे व्यक्तिगत झगड़े कर लेते हैं। महात्मा गांधी सारा जीवन अंग्रेजों से लड़ते रहे किन्तु उन्होंने व्यक्तिगत शत्रुता कभी नहीं की तथा वे सदा अंग्रेजों के मित्र बने रहे। वे पाप से घृणा करते थे, पापी से नहीं।

लिंकन ने कहा—"व्यक्तिगत झगड़ा बिल्कुल न करो। जिस व्यक्ति को (किसी महान् कार्य की सम्पन्नता के द्वारा) अपने जीवन में श्रेष्ठता प्राप्त करनी है, वह व्यक्तिगत झगड़े के लिये फालतू समय कदापि नहीं दे सकता है। कुत्ते से काटे जाने की अपेक्षा उसे रास्ता दे देना अधिक अच्छा है।"

जो मनुष्य लक्ष्योन्मुख हैं, वे व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठकर ही आगे बढ़ सकते हैं। उनका व्यक्तिगत झगड़ा किसी से नहीं होता। व्यक्तिगत झगड़े में न केवल समय और शक्ति नष्ट होते हैं, मनुष्य मार्ग से भी भटक जाता है।

यदि राह में पत्थर पड़ा हो तो उससे बचकर निकलना ही श्रेयस्कर है, व्यर्थ टकराने से क्या लाभ है? यदि हम फल काटते समय अपने हाथ को चाकू से विक्षत कर लें तो चाकू को दोष देना अविवेक है। महापुरुष के लिये व्यक्तिगत झगड़ा करना लक्ष्यपूर्ति में बाधा ही समुपस्थित करता है।

लिंकन विरोधियों की कटु आलोचना से भयभीत एवं विचलित नहीं होते थे। वे कहते थे कि यदि वे आलोचकों की प्रत्येक बात का उत्तर देने लग जायें

तो उनकी प्रगति ही अवरुद्ध हो जायेगी। कबीर तो निन्दकों को परम हितैषी मान कर उनको समीप ही रखने की बात कहते थे। व्यर्थ ही शत्रुभाव रखने वाले व्यक्तियों के लिये कवि कहता है—

**"जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव येषां प्रसादात्सुविचक्षणोऽहम्।**
**यदा यदा मे विकृतिं लभन्ते तदा तदा मां प्रतिबोधयन्ति॥"**

मेरे कटु विरोधी सदैव जीवित रहें जिनकी कृपा से मैं सुविचक्षण हो गया हूँ। जब भी मुझ में विकार उत्पन्न होता है तभी वे मुझे जगा देते हैं। द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्। मन्द लोग महापुरुषों के चरित से द्वेष किया ही करते हैं। अतएव कटुतम आलोचना एवं निन्दा सुनकर भी मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिये। महात्मा गांधी निन्दा और स्तुति में सम रहते थे। व्यक्तिगत निन्दा से वे कभी विचलित न होते थे। एक बार उन्हें कटु आलोचना से पूर्ण एक पत्र मिला। उन्होंने उसे पढ़कर उसकी उपेक्षा कर दी और उसमें से पिन निकाल कर उपयोग के लिये रख लिये। महात्मा गांधी कटुतम शब्द सुनकर भी शान्त रहते थे। कटु शब्द उन्हें उनके मार्ग से नहीं हटा सकते थे। गांधी जी और लिंकन के अनेक गुणों में साम्य स्पष्ट है।

## २२

# कुशल प्रशासक

प्रशासन सदैव एक कला रही है किन्तु लोकतंत्र के परिप्रेक्ष्य में उसका विशेष महत्त्व हो गया है। प्रशासक प्रशासन-शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी होता है। उसका सम्बन्ध उपरिस्थित अधिकारियों, अधीनस्थ कर्मचारियों, जनता आदि से रहता है। विभिन्न क्षेत्रों में प्रशासक के विभिन्न दायित्व होते हैं जिनके समुचित निर्वाह पर उस की सफलता निर्भर है। किसी बड़ी मिल के मुख्य अथवा विभागीय प्रशासक के लिये श्रमिकों की समस्याएँ भीषण हो सकती हैं तथा किसी प्रधानाचार्य के लिये कुछ छात्र एक कष्टप्रद कारण बन सकते हैं। प्रशासक के लिये नित्य नवीन समस्याएँ उभर कर आती रहती हैं जो अकुशल हाथों में आकर जटिल एवं कष्टकारक हो जाती हैं। समस्याओं के समाधान की शैली प्रशासक के महत्त्व को घटा अथवा बढ़ा देती है। प्रशासक के उत्तम होने पर भी उसकी अपनी सीमाएं होती हैं जिसे प्रायः कोई सुनना और समझना नहीं चाहता तथा विषम परिस्थितियों में उसे स्वयं ही आत्मरक्षा करनी पड़ती है।

प्रशासक को अपने व्यक्तित्व से ही सबसे अधिक सहायता प्राप्त होती है तथा उसे अपने व्यक्तित्व को संवार-सुधार कर उसे एक प्रभावी शस्त्र बनाकर रखना चाहिये। व्यक्तित्व का एक जादू होता है, जो मनुष्य के लिये सर्वाधिक सहायक होता है। एक प्रसिद्ध उक्ति है कि वेश-भूषा व्यक्तित्व को घोषित कर देती है। वेश-भूषा साधारण हो सकती है किन्तु वह उपयुक्त एवं स्वच्छ होनी चाहिये। किन्तु वास्तविक व्यक्तित्व चारित्रिक गुणों में अन्तर्निहित होता है। व्यक्तित्व का धनी मनुष्य अन्य जन को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से ही विजित कर आधी समस्या का समाधान कर लेता है। वह अपने उठने-बैठने, चलने और बोलने से दूसरों को प्रभावित कर लेता है। मधुर मुस्कान के बिना व्यक्तित्व का समस्त प्रसाधन निष्प्रभाव हो जाता है। मनोहारी मुस्कान व्यक्ति के माधुर्य को प्रतिबिम्बित करने के अतिरिक्त सद्भावना की भी द्योतक होती है।

कुशल प्रशासक छोटी-छोटी बातों में भी आदर्श-प्रेरक होता है। वह यथासमय कार्यालय इत्यादि निर्धारित स्थान पर पहुँचकर समयनिष्ठता का शिक्षाप्रद पाठ सिखा देता है। वह साधारण बातों में भी किसी को व्यर्थ आलोचना का अवसर नहीं देता। अधीनस्थ कर्मचारी उसकी कर्मनिष्ठा एवं कर्त्तव्यपरायणता से शिक्षा ग्रहण करते हैं। वह दूसरों को ईमानदारी, सचाई आदि का उपदेश देने की अपेक्षा उदाहरण प्रस्तुत करके प्रेरणा देता है।

लोकव्यवहारनिपुणता सिद्धान्तवादिता की पूरक होती है। सत्य और न्याय आदि सिद्धांतों का पालन मनुष्य को दृढ़ता प्रदान करता है, उसके आत्मविश्वास को बल देता है किन्तु लोकव्यवहार में कुशल होना मनुष्य को लोकप्रिय बना देता है। व्यवहारकुशलता के बिना मनुष्य रूक्ष होकर तिरस्कृत हो जाता है तथा निन्दा एवं कटु आलोचना का पात्र बन जाता है। लोकव्यवहारपटु व्यक्ति सबको आदर देता है किन्तु विशेष आदरणीय को विशेष आदर देता है। वह सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर सद्भावना की छाप छोड़कर उसे आत्मीयता से प्रभावित कर देता है। प्रशासक की व्यवहारकुशलता की पुष्टि तब होती है जब कार्य सिद्ध न होने पर भी कार्यार्थी प्रशासक को दोष नहीं देता तथा उसकी असमर्थता को स्वीकार करते हुए उसके सुन्दर व्यवहार की सराहना करता है। यह बहुत कठिन एवं दुस्साध्य है तथापि इसके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये। अब रहीम मुश्किल परी, गाढ़े दोऊ काम। सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम। सत्य और संसार दोनों का मधुर निर्वाह करना व्यवहारकुशलता है।

सत्य और न्याय का सहारा प्रशासक के लिये सबसे बड़ा संबल होता है। किन्तु प्रायः सच्चा और ईमानदार आदमी अपनी सचाई और ईमानदारी का घमंड करने लगता है तथा व्यवहार में जिद्दी और रूखा हो जाता है जिससे चतुर्दिक् उसके शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं और उसको कहीं सम्मान नहीं मिलता। ऐसा व्यक्ति अकेला पड़ जाता है तथा अपने व्यवहार के दोष को न देखकर वह इमानदारी और सच्चाई को ही कोसने लगता है। युग के बदलते हुए मूल्यों और बदली हुई परिस्थितियों की अवहेलना करना भी यथार्थ का त्याग एवं अविवेक है। सत्य का व्यवहार श्रेयस्कर होता है किन्तु वह हितकर एवं मधुर अवश्य होना चाहिये। सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। सत्यनिष्ठा के अतिरिक्त प्रशासक को विनम्र होना चाहिये ताकि दुराग्रह छोड़कर वह आवश्यकता पड़ने पर उचित समझौता कर सके।

कुछ लोग बात-बात में आत्मप्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर समस्या को जटिल कर देते हैं। अपनी व्यक्तिगत आलोचना अथवा निन्दा को विवाद का विषय बना देना अविवेक ही है। प्रशासक को खुले दिमाग से सबके हित में समस्या का हल करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। किसी भी उत्तम प्रकार से कार्यसिद्धि करना लक्ष्य होना चाहिये। आत्मगौरव दर्प बनकर बाधक ही नहीं, क्लेशप्रद भी हो जाता है। कभी

किसी की सत्ता अमर नहीं रहती तथा प्रतिष्ठा अक्षत नहीं रहती। सत्ता और प्रतिष्ठा के लिये मानवता का परित्याग करना अविवेक है। प्रशासक एक दूत की भांति होता है जिसे कार्यसिद्धि के मार्ग में आत्मप्रतिष्ठा को अवरोध बनाकर खड़ा नहीं करना चाहिये। बाँध लिये जाने पर भी हनुमान कहते हैं—

मोहि न कछु बांधे कइ लाजा, कीन्ह चहऊं निज प्रभु कर काजा।

यश की कामना अदम्य होने पर पतनकारक संकट समुत्पन्न हो जाता है। कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होने के बजाय यश की कामना से प्रेरित होने वाला व्यक्ति यश पाने के लिये खोटा कर्म भी कर लेता है। इसके अतिरिक्त यश की इच्छा प्रबल होने पर अपयश का भय सताने लगता है तथा यश न मिलने पर निराशा उत्पन्न हो जाती है। उद्दाम यश-कामना अहंभाव को विकृत कर देती है तथा मनुष्य को सदैव अशान्त बनाये रखती है। यश और अपयश के धरातल से ऊपर उठ कर समभाव में स्थित होकर कर्त्तव्य भावना से कर्म करने वाले व्यक्ति को अन्तर्तोष शांति और धवल कीर्ति अवश्य प्राप्त होते हैं। उत्तम व्यक्ति के लिये यश कभी साध्य नहीं होता है।

प्रशासक दूसरों पर अपनी सचाई की छाप केवल तभी छोड़ सकता है जब वह दलगत अथवा वर्गगत संकीर्णता से ऊपर उठा हुआ हो तथा स्वजन-पक्षपात (भाई भतीजावाद) से मुक्त हो। यदि सम्पर्क में आने वाले अधिकांश व्यक्ति उसे न्यायप्रिय एवं निष्ठावान् समझते हों तो उनकी यह धारणा उसके पक्ष में जनमत का निर्माण कर देगी तथा जनमत एवं लोकप्रतिष्ठा उसके लिये परम सहायक बन जायेगी। सत्य और न्याय का पक्षधर एवं पालक होते हुए भी विवेकशील व्यक्ति विनम्र रहता है तथा इस प्रकार व्यवहार करता है कि अन्य जन भी यथासंभव उसे वैसा ही समझें तथा उसके विषय में भ्रांति न हो सके। न्याय होना तो उचित है ही किन्तु न्याय इस प्रकार होना चाहिये कि वह न्याय प्रतीत हो। कुशल प्रशासक के प्रत्येक पग की न्याय्यता एवं औचित्य स्पष्ट झलकने चाहिये। तभी वह रहस्यमय न रहकर अपने चारों ओर शंका के वातावरण को ध्वस्त कर सकता है।

उदारतापूर्वक सहयोग एवं सहायता करने की मनोवृत्ति प्रशासक को सुखी एवं लोकप्रिय बनाने में सहायक होती है। दूसरों के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने की मनोवृत्ति न केवल चतुर्दिक् मनुष्य के शत्रु उत्पन्न कर देती है बल्कि उसे अशांत भी रखती है। किसी को भी तुच्छ, नगण्य एवं महत्वहीन मानकर उपेक्षा करना अविवेक है। 'रहिमन देखि बड़ेन्ह को लघु न दीजिये डार, जहाँ काम आवै सुई कहा करै तलवार।' जीवन में सभी की उपयोगिता है।

किसी भी ज्ञात अथवा अज्ञात व्यक्ति की अवमानना करना एक संकट ला सकता है। यथासम्भव शत्रुओं की संख्या को घटाते रहना और स्नेहीजनों की संख्या को बढ़ाते रहना हितकर सिद्ध होता है।

भावुकताप्रधान व्यक्तियों के उग्र होने पर उनके साथ उस समय विवाद टाल देना उचित होता है। ऐसे व्यक्ति जिनकी उग्रता से वचन-वज्र द्वारा प्रहार करते हैं, आवेश शांत होने पर उसी तीव्रता से पछताने भी लगते हैं। भावुकताप्रधान लोगों से कदापि रुष्ट नहीं होना चाहिये।

दुर्बल एवं पीड़ित व्यक्ति का पक्षधर होना न्यायसंगत एवं उचित होता है किन्तु न्याय का पक्ष इस प्रकार लेना चाहिये कि अन्य जन से भी व्यर्थ ही स्थायी शत्रुता न हो जाये।

उत्तम प्रशासक मितभाषी होता है तथा बोल-चाल में सरल, स्पष्ट एवं मृदु होता है। वह गोपनीय विषय में गंभीरतापूर्वक मौन रहता है। वह दूसरों के साथ दूरी रख कर भी उनके निकट बना रहता है। वह चापलूसों के घेरे में नहीं फंसता किन्तु उन्हें रुष्ट भी नहीं करता है। वह चुगली को प्रोत्साहन देकर आत्मपतन नहीं करता। वह दुःखी तथा उत्तेजित व्यक्तियों की बात धैर्यपूर्वक सुनकर उनकी सहायता करता है तथा दुश्शील एवं अपराधवृत्ति वाले व्यक्ति के साथ व्यवहार करने में विशेष सावधान रहता है। दुष्ट व्यक्ति से क्षुब्ध होने तथा उसे शत्रु बनाने के बजाय उसे अपनाकर उसका सदुपयोग करना चाहिये। कुशल प्रशासक छोटी-छोटी बातों को मान-अपमान का प्रश्न बनाकर उत्तेजित एवं दुःखी नहीं होता। उत्तेजित होना अथवा दुःखी होना अपने को दुर्बल बना कर कार्य में गतिरोध उत्पन्न करना है।

प्रशासन के लिये सर्वाधिक सहायक अथवा अवरोधक उसके सन्निकट अधीनस्थ कर्मचारी होते हैं। निकटस्थ कर्मचारी ही उसके लिये दुःख-सुख के सच्चे साथी और दाहिने हाथ की भांति उपयोगी हो सकते हैं। अतः उनके साथ अत्यन्त सावधान होकर भद्र व्यवहार करना चाहिये तथा किसी भी अवस्था में उनका विरोध नहीं लेना चाहिये। प्रशासक को उनसे ही सबसे अधिक धोखा मिल सकता है तथा उन पर विश्वास करते हुए भी सदैव सतर्क रहना चाहिये। उसे अवसरानुसार भृकुटि तानने और मुस्कराने में निपुण होना चाहिये।

कुशल प्रशासक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को कौटुम्बिक जन मानकर स्वयं एक मुखिया की भांति उनका मार्गदर्शन करता है। वह गम्भीर रहकर भी उनके पारिवारिक जन की कुशल क्षेम में रुचि रखता है तथा आमंत्रित होने पर उनके उत्सवों में भी सम्मिलित होता है। प्रशासक के लिये वे अंग ही होते हैं तथा उनकी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा करना उसका दायित्व होता है। सन्निकट अधीनस्थ जन में फूट डालकर उन्हें परस्पर लड़ाते रहना, अनैतिकता तथा अविवेक है। नित्य प्रति उनसे छोटी-छोटी बातों में ताने कसकर तथा स्पष्टीकरण मांगकर उन्हें परेशान करने से प्रशासक स्वयं परेशान और शंकित हो जाता है। संरक्षा करने पर संरक्षा मिलती है तथा त्रास देने से त्रास मिलता है। निकटवर्ती अधीनस्थ कर्मचारियों पर ही प्रशा-

सक का यश और अपयश अत्यधिक मात्रा में निर्भर रहता है। वे शांति और अशांति के प्रमुख कारण होते हैं।

सिद्धान्त के विषय में दृढ़ता और व्यवहार की कटुता में, तथा दण्ड देने और हानि पहुँचाने में बहुत अन्तर है। विवाद होने पर सैद्धान्तिक दृढ़ता इतनी अधिक कटुता उत्पन्न नहीं करती जितनी कि व्यवहारगत कठोरता। विवाद की स्थिति में कटु वचन नहीं कहना चाहिये यद्यपि वैचारिक दृढ़ता का प्रदर्शन करना अवश्य लाभकारी होता है। यथासम्भव चेतावनी देकर क्षमा करना परस्पर सम्बन्ध में कटुता उत्पन्न नहीं होने देता। जहाँ शक्ति प्रदर्शन से काम चल सकता है वहाँ शक्ति उपयोग खेदजनक ही रहता है। अपराध के लिये अपने अधीनस्थ कर्मचारी को अकेले में डाटना या समझाना चाहिये तथा सबके सामने कदापि न डाटना चाहिये क्योंकि उससे वह अपने को अपमानित मान सकता है। चतुर अश्वारोही यथासंभव संकेत से ही काम चलाता है तथा वार-वार चावुक मार कर अश्व को हट्टी नहीं वना देता है।

मनुष्य के साथ पशु-तुल्य व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिये। मनुष्य बुद्धि-प्रधान प्राणी है। सामान्यतः उसे पशुवल की अपेक्षा बुद्धिवल का ही उपयोग करना चाहिये। बुद्धिर्यस्य वलं तस्य। जिनके पास बुद्धि है उसी के पास सच्चा वल है। हाथी सूँड से, गाय-वैल सींगों से, कुत्ता-वन्दर दांत-पंजों से और गधा दुलत्ती से आत्म-रक्षा करते हैं किन्तु मनुष्य बुद्धिवल से ही आत्मरक्षा करता है। मनुष्य ने बुद्धि-बल के आधार पर ही पशु-जगत् को नियंत्रित किया है। वौद्धिक वल का अर्थ है सैद्धांतिक दृढ़ता के साथ मृदु व्यवहार का समन्वय। सद्व्यवहार करना न केवल नीति है, मानवोचित धर्म भी है। यद्यपि कुछ अज्ञजन सज्जन को दब्बू और ढीला कह कर निन्दित करते हैं, सज्जनता का प्रभाव स्थायी एवं सुदूरगामी होता है। व्यवहार से मनुष्य अनुकूल को प्रतिकूल तथा प्रतिकूल को अनुकूल वना लेता है।

यदि अधीनस्थ व्यक्ति को दण्ड देना पड़े तो कटुता एवं क्रोध त्याग कर उचित दण्ड देना ही मानवोचित एवं नीतिसम्मत होता है। यदि दण्ड देने वाला कोई न हो तो प्रजाजन मछलियों की तरह एक-दूसरे को खाने लगें। 'प्रजा दण्ड-धराभावे मात्स्यन्यायं श्रयन्त्यमूः।' दण्ड देने में उसका औचित्य तथा प्रशासक की बाध्यता स्पष्टतः प्रतीत होने चाहियें अन्यथा वह कटुता उत्पन्न कर देता है। दण्ड का उद्देश्य किसी को कुचलना नहीं वल्कि कर्त्तव्यचेतना को जगाना होना चाहिये। सिद्धान्त के विषय में दृढ़ता और व्यक्तिगत व्यवहार में क्षमाशीलता का समन्वय व्यक्ति को चमका देता है। कभी-कभी सिद्धांतवादिता एक सनक वन जाती है। विवेकशील व्यक्ति सिद्धांत में दृढ़ रहकर भी मानवीय गुणों के प्रति सदैव जागरूक रहता है।

पुरस्कार अथवा दण्ड देना तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही करना प्रशासन का

आवश्यक अंग होता है किन्तु प्रायः इससे कटुता उत्पन्न हो जाती है और कुटिल षड्यंत्र रचना के कारण प्रशासक को न केवल तानाशाह एवं अन्यायी के रूप में चित्रित किया जाता है, उसे स्थानान्तरण, पदावनति आदि के द्वारा अपमानित भी करा दिया जाता है। विवेक और व्यवहारकुशलता की मांग है कि उसे ऐसी विषम परिस्थिति में भी संतुलन एवं आन्तरिक उल्लास नहीं खोना चाहिये। वाह्य कटुता के कारण अपने आन्तरिक उल्लास को खो देना अपने साथ शत्रुता करना है। यदि सत्कर्म करने पर भी हानि हो जाये तो सत्पुरुष को यह आत्मसंतोष तो होता ही है कि उसने विषम परिस्थिति में भी निर्भय होकर कर्त्तव्य पालन किया। कर्म की सफलता का आकलन हानि-लाभ से नहीं बल्कि अपनी सत्यनिष्ठा से करना चाहिये तथा अपने चरित्र के सम्बन्ध में दूसरों के प्रमाण-पत्र एवं प्रशस्ति की अपेक्षा अपने आत्मसन्तोष को अधिक महत्व देना चाहिये।

दमननीति एवं आतंक सदैव विस्फोटक सिद्ध होते हैं। दूसरों को अशांत रखने वाला व्यक्ति स्वयं भी अशांत ही रहता है। मनुष्यों पर प्रेम से ही शासन करना शोभनीय है। प्रेम के साथ एक सीमा तक प्रेम-प्रदर्शन करना भी व्यावहारिक होता है। अपने समीपवर्ती व्यक्तियों के प्रति सामान्य व्यवहार में ममत्व-भाव होना तथा सहनशील एवं क्षमाशील होना उनके साथ आत्मीयता का नाता स्थापित कर देता है तथा प्रशासन को न केवल सरल और सुगम बना देता है, उसे मानवीय पुट भी दे देता है। उदारचेता प्रशासक आदर और श्रद्धा का पात्र हो जाता है। कृतघ्न व्यक्ति को भी उसके संकट में सहायता देना केवल नैतिकता ही नहीं व्यावहारिकता की भी मांग है। कार्यदक्षता भी प्रशासक को प्रभावी एवं आदरणीय बना देती है। प्रशासक के लिये केवल आदरणीय बनना पर्याप्त नहीं है, उसे प्रभावी भी होना चाहिये। अतः कार्यदक्षता के प्रति उसे सजग रहना चाहिये।

लोकतंत्र में हड़ताल, घिराव आदि के रूप में स्वतन्त्रता का दुरुपयोग प्रशासक के लिये संकट बन जाता है। प्रदर्शनकारियों की भीड़ प्रशासक को घेरकर उसे अपमानित कर देती है। ऐसी दुर्दशा प्रायः दमनकारी प्रशासक की ही होती है। नीतिकुशल प्रशासक ऐसे अवसर पर सहानुभूति प्रदर्शन द्वारा उत्तेजित भीड़ में सम्मिलित होकर तथा उसका अंग बनकर उसका उचित मार्गदर्शन कर देता है। वह उनकी कठिनाइयों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करके उनकी भावनाओं को उच्चाधिकारियों को प्रेषित करने का आश्वासन देकर उन्हें शान्त कर देता है तथा उनकी सम्भव सहायता के लिये तत्पर रहता है। उन्हें अपनी सामर्थ्य की सीमा का भान कराते हुए उनकी न्यायोचित मांगों के नैतिक समर्थन द्वारा उन्हें शान्त कर देना चाहिये। यथासम्भव प्रशासक को किसी विवाद में स्वयं अंगभूत (पार्टी) बनने के बजाय निर्णय करने की ही स्थिति में रहना चाहिये तथा विवादग्रस्त दलों में मध्यस्थ सम्पर्क-अधिकारी के रूप में सहायक बन जाना चाहिये। वह उत्तेजित व्यक्ति अथवा भीड़

से कदापि टकराता नहीं है। वह भीड़ के विभिन्न अंगों के पारस्परिक विवादों का निर्णायक बनकर उनका सामंजस्यकर्ता एवं सहायक हो जाता है। साहस, संयम और विवेक के सहारे वह ऐसी स्थिति को भी सरलतापूर्वक पार कर लेता है। विवेकशील व्यक्ति प्रतिकूल व्यक्ति को अनुकूल बना लेता है तथा अविवेकी अनुकूल को भी प्रतिकूल।

कुशल प्रशासक अपने प्रशंसकों और विरोधियों के साथ व्यवहार का ऐसा सन्तुलन रखता है कि न उसके प्रशंसक रुष्ट हों और न विरोधी ही अतिविरोध करें। प्रायः वैरी को सहोदर बनाने पर सहोदर वैरी बन जाते हैं। विरोधीगण को अपनाने से समर्थक भी विरोधी हो जाते हैं, विरोधी तो पहिले से विरोधी हैं ही। ऐसी स्थिति भयावह होती है। अपने प्रशंसकों एवं समर्थकों को ठुकराकर विरोधीगण को जीतना अविवेक है किन्तु प्रशंसकों के कारण विरोधीगण का तिरस्कार करना भी विवेक नहीं है। अपने सद्सिद्धान्तों एवं न्यायप्रियता से प्रभावक्षेत्र बढ़ाकर धीरे-धीरे हितैषियों की संख्या को बढ़ाना और विरोधियों की संख्या एवं उग्रता को घटाते रहना नितान्त सम्भव ही नहीं, समुचित भी है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से सुमधुर वातावरण उत्पन्न कर सकता है यदि वह विश्वासपूर्वक उसमें डटा रहे। कार्य सफलता के लिये सब ओर से अधिकतम सहयोग लेना आवश्यक होता है।

समस्या के प्रत्येक समाधान में कुछ दोष अवश्य रह जाते हैं तथा उसके कुछ आलोचक भी अवश्य बने रहते हैं। प्रशासक बुद्धिमान सहयोगियों से सम्मत्ति लेकर भी निर्णय स्वयं अपने विवेक से ही लेता है। वह सम्मत्ति लेकर उन्हें गौरव देता है तथा उन्हें अपना दृष्टिकोण समझा देता है। वह किसी महत्वपूर्ण पग उठाने से पूर्व उसके लिये भूमिका एवं वातावरण अवश्य तैयार कर लेता है। समस्या उत्पन्न होने पर उसके व्यापक एवं विषम हो जाने से पूर्व ही उसका समाधान कर देना चाहिये।

किसी समस्या का सामना करने के लिये साहस, आत्मविश्वास और विवेक परम आवश्यक होते हैं। अपने सिद्धान्तों एवं विचारों के प्रति आस्था रखना आत्मविश्वास को दृढ़ बना देता है। आत्मविश्वास तथा अहंकार में अन्तर होता है; आत्मविश्वास गुण होता है तथा अहंकार एक दोष। मित्रों, सहयोगियों और समर्थकों की सहायता तभी सार्थक हो सकती है जब मनुष्य में आत्मविश्वास प्रदीप्त हो रहा हो। साहसपूर्वक चुनौती स्वीकार करना समस्या पर विजय पाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग होता है। विषम परिस्थिति को सेवा एवं आत्मोन्नति का साधन मान लेने पर वह एक वरदान हो जाती है।

कभी-कभी एक ही दुष्ट एवं प्रपंची व्यक्ति तूफान खड़ा कर देता है जिसे सैंकड़ों प्रशंसकों की प्रशंसा भी शान्त नहीं कर पाती। उसे शान्त करने के लिये प्रयत्न करने में अपनी कसरे-शान नहीं समझना चाहिये। अपने सद्व्यवहार से उत्पन्न अनुकूल वातावरण ही उसका उत्तम उपाय होता है तथापि दुष्टता से निपटने के लिये

साहस, संयम और विवेक की आवश्यकता होती है। मिथ्या दोषारोपण तथा निन्दा से उत्तेजित होकर मनुष्य असंतुलित तथा अशक्त हो जाता है। यथासंभव उसको महत्व न देकर उसकी उपेक्षा करना एक सुंदर उपाय है तथापि आवश्यकता पड़ने पर आत्मरक्षार्थ उस स्थिति का दृढ़तापूर्वक सामना करना चाहिये अन्यथा अपने समर्थकों का भी नैतिक पतन हो जाता है। भयभीत होकर मनुष्य न अपनी रक्षा कर सकता है, न दूसरों की ही। हां, आलोचना की सत्यता से अपना सुधार करना भी आवश्यक होता है।

कुछ लाल सिगनल हैं। कभी-कभी पेशेवर 'नेता' अथवा 'पीत' पत्रकार जो भयादोहन (ब्लैकमेल) एवं दवाव से धन ऐंठना चाहते हैं, कुटिलतापूर्वक मिथ्या दोषारोपण करके आतंकित करने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी अपने अधीनस्थ कुण्ठित कर्मचारी भी जाल रच देते हैं। इनसे भयभीत होना पाप को बढ़ावा देना है। ऐसे लोगों का मुकावला डटकर किन्तु पग-पग पर सावधान रहकर करना चाहिये। कुटिल एवं निकृष्ट व्यक्ति के साथ व्यवहार करते हुए भी कठोरता एवं कटुता के स्थान पर दृढ़ता एवं मृदुता ही भद्र प्रशासक के लिये सदैव शोभनीय है। आत्म-गौरव का सम्मान करने वाला व्यक्ति निकृष्ट व्यक्ति के साथ व्यवहार करते हुए भी उसके समान नीचे स्तर पर नहीं उतरता हैं।

विभाग में अपने शीर्षस्थ एवं सम्वद्ध अधिकारीगण तथा संवद्ध महत्वपूर्ण व्यक्तियों से यदा-तदा सम्पर्क रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। उनसे सम्पर्क वनाये रखने पर व्यर्थ ही उत्पन्न भ्रांतियों का निराकरण स्वयमेव होता रहता है। स्वाभिमान के नाम पर मिथ्याभिमान होना अविवेक है तथा अधीनस्थ एवं शीर्षस्थ व्यक्तियों तथा आगंतुकों एवं पड़ौसियों से कटा हुआ और दूर रहकर मनुष्य अपने लिये अनेक समस्याएं खड़ी कर लेता है। नीति एवं नैतिकता की मांग है कि प्रशासक को अपनी सफलता का श्रेय अपने अधीनस्थ एवं शीर्षस्थ तथा अन्य सहायक व्यक्तियों को देना चाहिये तथा विफलता में अपने दोषों को नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। वास्तव में दूसरों पर अविश्वास करके सारे काम को स्वयं ही निपटाने के प्रयत्न से मनुष्य न केवल अपना कार्यभार वढ़ा लेता है, अपने लिये समस्या भी वढ़ा लेता है। जिन कार्यों को सौंपा जा सकता है, उन्हें दूसरों को दे देना चाहिये। काम वांटने से काम अच्छा होता है तथा दूसरे लोग भी अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। हां, देखभाल तो स्वयं करनी ही चाहिये।

प्रशासक प्रायः वाह्य परिस्थिति को अपनी मानसिक समस्या वनाकर रक्त-चाप को उच्च कर लेते हैं और मानसिक तनाव के शिकार हो जाते हैं। वाह्य परिस्थिति का समाधान तटस्थ एवं वस्तुपरक दृष्टि से करने पर ही मनुष्य संतुलित रह सकता है। परिस्थिति से ऊपर उठने तथा निर्भय होने पर ही समस्या का समाधान हो सकता है। परिस्थिति को मानसिक समस्या वनाने पर दोहरा संघर्ष करना पड़ेगा—एक वाहर और एक भीतर अपने से ही। अपनी मानसिक शान्ति

खोकर मनुष्य दयनीय हो जाता है। समभावस्थित होकर ही समस्या का निदान करना चाहिये। कुशल प्रशासक (विशेषतः उसके भावुकताप्रधान होने पर) कभी व्यक्तिगत झगड़े मोल नहीं लेता है क्योंकि व्यक्तिगत झगड़े में फंसकर वह उपहसनीय हो जाता है तथा शान्ति खो बैठता है। मानसिक शान्ति एवं संतुलन बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक होता है।

महानता और शान्ति प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य कदापि न होना चाहिये। उज्ज्वल विचारों, स्वच्छ आचरण तथा उत्तम चरित्र से महानता और शान्ति स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। लक्ष्य होना चाहिये—उत्तम ढंग से सदैव कर्त्तव्यपालन।

चारित्रिक गुणों एवं व्यवहारकुशलता द्वारा अपने चारों ओर अनुकूल पर्यावरण का सृजन करना दक्षता में सुधार ला देता है तथा प्रशासक को सुख, शान्ति एवं सुयश प्रदान करता है। प्रशासक की सफलता की कसौटी यह है कि किसी प्रकार प्रशासन के पहिये आगे की ओर बढ़ते रहें ओर गतिरोध का निराकरण होता रहे। चारित्रिक गुणों के उत्कर्ष द्वारा कुशल प्रशासक समाज के हित-संपादन का सशक्त यंत्र बनकर स्वयं कृतार्थ हो जाता है।

× × × ×

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं स्वार्थसिद्धये ॥ (विदुर नीति)

जो समस्त प्राणियों के लिये हितकर हो तथा अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वर-अर्पण (समर्पण) बुद्धि से करना चाहिये। संपूर्ण सिद्धियों का मूल (रहस्य) यही है।

× × × ×

नन्दिनी मनीषा यत्र साधना चैव रञ्जना।
करुणा मानसे ह्येव रामस्तत्र प्रमोदते ॥

---